सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला

एकसौ तेरहवां ग्रन्थ

---

[११३]

मेरी हिमाक़त

लेखक

वियोगी हरि

सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली

शाखाएँ

ली : लखनऊ : इलाहाबाद : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता

मई १९४२ : २०००

मूल्य

आठ आना

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल
कनाट सर्कस, नयी दिल्ली

मुद्रक
काशीप्रसाद वाजपेयी
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स
बाजार सीताराम, दिल्ली

दो शब्द

मेरी यह हिमाकत ही है कि समाज के कई धुरीणों का सीधा-सा दर्शन व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से किया। रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा पकड़ा, और सीधे लक्ष्य पर पहुँचने की गुस्ताखी की।

परिष्कृत या अविकृत आखिर क्या होगा, इस ऊहापोह ने ऐसी जगह उठाकर फेंक दिया, जहाँ, आशा यह है कि, मूकता शायद वाचालता का मुहँ वन्द कर दे, और जीवन-शोध का शायद कोई नया दर्शन हो सके।

विज्ञापन ने 'असत्' को जो प्रतिष्ठा-पद दे रखा है, उसे देखकर कभी-कभी एक सुखद निराशा का संचार मन में होने लगता है। 'प्राचीन' अभी कलतक कितना महँगा आँका जाता था—उसे आज क्यों इतना सस्ता कर दिया गया है, यह प्रश्न न जाने किस बुरी घड़ी में उठा। अर्वाचीन मीठा तो लगा, पर उस मिठास के अंदर जैसे तेजाब था। उससे तो व्यंजना-शक्ति को उत्तेजन ही मिला।

समझ लिया जाये कि अल्पसंख्यक व्यंग्य के लक्ष्य नहीं बने। जान में या अनजान में, वे सव जगह वच जाते हैं। कौन-सा सिद्धान्त है, जिसमें कोई-न-कोई अपवाद न आता हो ? और इन्हीं कमबख्त अपवादों से मानव-जीवन की मूल सात्विकता 'छुईमुई' में परिणत नहीं हो सकी है। उनकी स्तुति के लिए शुद्ध वाणी या लेखनी कहाँ से पाऊँ ?

हरिजन-निवास, दिल्ली
१५-५-४२

वियोगी हरि

सूची

मेरी हिमाक़त

: १ :

कवि से

कवि, ऐसा सुनते हैं कि तुम्हारे नाम से मनीषी, ज्ञानी, स्वयंभू आदि कितने ही ऊट-पटाँग अर्थों का बोध प्राचीन कालिक मस्तिष्कों में हुआ करता था।

और, इन सब विचित्र, बल्कि अपमानद्योतक अर्थों को, मालूम होता है, तब के कुछ अपरिपक्व कवियों ने स्वेच्छा से ग्रहण भी कर लिया था।

वह शायद वह युग था, जबकि 'रस' अच्छी तरह पका या जमा नहीं था। रस का तब शायद एकदम तरल रूप रहा होगा। ऐसी अस्थिर अवस्था में कवि तब 'केवल कवि' कैसे बन सकता था? तब का अप्रौढ़ कवि तो मनीषी, ज्ञानी, स्वयंभू आदि अद्भुत नामधारी प्राणी ही हो सकता था।

यही कारण है कि उपनिषद्कारों को तुम कवि कहते हुए

संकोच करते हो। 'रसो वै स:' का गीत गानेवाले अरण्यवासी प्रकृति-पूजकों को काव्य-रस के पूर्ण विकास का अनुभव कैसे हो सकता था ?

क्रौंच-वध से प्रेरणा पाकर वाल्मीकि भी अधिक-से-अधि 'आदिकवि' ही रहा, 'केवल कवि' न बन सका; क्योंकि उस प्रेरणा में कोई रहस्य छिपा हुआ नहीं था।

उस प्रेरणा में तो कोरी करुणा थी—रस की वही तरलता, वही अपरिपक्वता। और इसीलिए आदिकवि अपने काव्य को एक व्यक्त आदर्श के परे न ले जा सका। तुम्हारी व्याख्या के 'अव्यक्त' की सृष्टि वह लोक-कवि कर ही कैसे सकता था ?

फिर वाल्मीकि तो तप करते-करते मिट्टी का ढेर बन गय था। मिट्टी के ढेर में से अलौकिक रहस्य-धारा का फूट निकलना असंभव था। आदर्श मानव की सामान्य कल्पना के आगे बेचारा आदिकवि जा ही नहीं सका।

और इसी तरह, बूढ़ा व्यास भी लोक-संग्रह के फेर में पड़कर तुम्हारी व्याख्या का कवि न बन सका।

कवि तो उनके बाद हुए। प्रौढ़, पक्के और 'केवल कवि' इन-जैसों के पीछे ही हुए।

तुम कवि हो, 'केवल कवि' हो; आदर्श से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। मानव के प्रति तुम्हें कोई कर्त्तव्य नहीं, कोई बन्धन नहीं, और लोक-संग्रह की कोई अपेक्षा नहीं। कारण कि, तुम शतप्रतिशत विशुद्ध कवि हो।

बिना ही किसी उद्देश के तुम शब्द-सृष्टि करते रहते हो। तुम्हें भय है कि उद्देश और उपयोग से कवि की सृष्टि दूषित हो जाती है।

जगत् के सामान्य प्रश्नों से तुम्हें कोई मतलब नहीं, तुम्हारी साहित्यिक सतह से वे प्रश्न बहुत नीचे हैं, उन्हें छूने का प्रयास करना कवि का काम नहीं। तुम्हारा 'काव्य-मानव' या 'अति-मानव' तो खालिस कल्पनाओं का पुतला है। और कल्पनाएँ भी कैसी? तरल, अलौकिक और अनंतपथगामिनी!

पुराकाल में एक यह शोध हुई थी कि जिसकी वाणी से लोक-चारित्र्य शुद्ध होता हो, उसे कवि कहा जाये।

तुम्हारे मत से यह व्याख्या और चाहे जिसकी हो, किंतु कवि की नहीं हो सकती। कारण, वह अपने कल्पित मानव में कोई अशुद्धि देखता ही नहीं—तब उसे स्वकीय मानव के चारित्र्य-शोधन की आवश्यकता ही क्या?

तुम्हारा काम तो मनुष्य के मनोविकारों को उत्तेजित कर देना मात्र है। तुम्हें पसन्द नहीं कि मनोविकार सोते रहें या शिथिल पड़े रहें। उनको तुम निरन्तर जाग्रत रखना चाहते हो।

अपनी शब्द-रश्मियों से कभी तो तुम कामवृत्ति को सतेज कर देते हो, कभी मोह-वृत्ति को और कभी क्रोध-वृत्ति को। तुम्हारी दृष्टि में शायद विकारोत्तेजन का ही नाम रस-विकास है।

मानना पड़ेगा कि तुम सोये हुए को जगा देते हो और जाग्रत को सुला देते हो। तुम्हारी ये दोनों ही क्रियाएँ सुन्दर और भयंकर हैं।

तुम्हारे काव्य-जगत् में पहुँचकर मनुष्य विकल हो जाता है। अस्वाभाविक गति से उसका हृदय धड़कने लगता है। आँखों से या तो चिनगारियाँ छूटने लगती हैं, या उनमें खुमारी छा जाती है, या फिर पानी बहने लग जाता है। तुम उसकी कैसी अस्वस्थ अवस्था कर देते हो!

मेरी हिमाक़त

तुम्हारी कवि-दृष्टि में ऐसा उत्तेजित, विक्षिप्त और अस्
मनुष्य 'रसिक' कहा जाता है। ऐसा रसिक प्राणी तुम्हें अति
प्रिय है।

अरसिक याने सामान्य स्वस्थ मनुष्य का तुम मुँह भी न
देखना चाहते। अरसिकों के आगे कविता सुनाना तुम किसी पूर्
कृत पाप का कुफल मानते हो।

तुम्हारी रचना सुनकर जो विकल या अस्वस्थ नहीं होता, उसे
तुम पशु और पत्थर से भी गया-गुज़रा समझते हो।

हमेशा तुम काव्य रसिकों की ही टोह में रहते हो। जब ऐसा कोई
गुणग्राहक मिल जाता है, तुम उसे अपनी एक के बाद एक
कविता सुनाने लग जाते हो; वाणी बाँध तोड़ देती है। तुम उस
चेहरे की तरफ़ देखते जाते हो कि वह तुम्हारे कविता-पाठ में रस
ले रहा है या नहीं। तुम्हारे जिस पद या पंक्ति पर वह मुग्ध हुआ
मालूम देता है, उस पंक्ति को तुम बार-बार झूम-झूमकर सुनाते हो।

उसके मुख से निकले हुए प्रशंसा के मादक शब्द अफीम
का काम देते हैं। तुम्हारे सामने एक चित्रपट-सा खड़ा हो जाता
है—तुम स्वप्न-सा देखने लग जाते हो कि तुम्हारी कविता शांत वृद्धों
में भी यौवन-मधु का संचार कर रही है, समस्त प्रकृति वासना-रस
से उद्वेलित हो रही है, अथवा भक्ति के रस-सागर में विश्व डूबता
जा रहा है, अथवा सारा उठा हुआ राष्ट्र विप्लव की ज्वालाएँ उगल
रहा है, और पुराने-धुराने समाज की काया बड़ी तेज़ी से पलटती
जा रही है।

यही कारण है कि तुम अपनी नयी-नयी रचनाएँ सुनाने को
सदा व्याकुल रहते हो। कोई कितने ही ज़रूरी काम से कहीं जा

रहा हो, तुम एक-दो कविताएँ तो उसे रास्ते चलते-चलते भी सुना देते हो। कोई भी काल हो, कोई भी स्थान हो—यदि वह रसिक है तो,उसे तुम कविता सुनाये बग़ैर छोड़ नहीं सकते।

तुम्हारे प्रशंसक भी प्रशंसा के पात्र हैं, जो तुम्हारी कविताओं से ऐसे-ऐसे गूढ़ अर्थ निकाल लेते हैं, जिनकी शायद तुम्हें भी कभी कल्पना न हुई हो। तुम्हारे नग्न शृङ्गार में वे कभी अध्यात्म का दर्शन करते हैं, और कभी क्रोध, द्वेष और अहंकार के उद्दीपन में स्वदेश-प्रेम का।

तुम्हें आश्चर्य होना ही चाहिए, जब तुम देखते हो कि जन-साधारण में ऐसी कविताएँ भी बड़े प्रेम से सुनी और गायी जाती हैं, जिनमें न तो कोई अनोखा भाव होता है, न अजीब-अजीब उक्तियाँ, न अलंकारपूर्ण सुन्दर भाषा ही। और जिनमें व्याकरण तक की टाँग टूटी होती हैं; छन्दः-शास्त्र का भी ठीक-ठीक पालन नहीं होता। संतोष इतना ही है कि ऐसी भद्दी चीज़ों अर्थात् लोक-गीतों और संत-वाणी ने ग्रामीण जनता में ही अधिक आदर पाया है। इन कविताओं ने ज्यादातर देहात के अनपढ़ लोगों को ही विमोहित किया है।

कवि, ऐसे लोगों की अरसिकता को देखकर तुम्हें मन में हँसी तो आती होगी, जो उन साखियों और सबदों के अटपटे साँचे में अपना सुन्दर जीवन ढालना चाहते हैं। मन में तुम कहते होगे कि विधाता ने उन ग्रामीणों को रस, कला और सौन्दर्य परखने की अक्ल क्यों नहीं दी!

पर ऐसी बात नहीं है कि तुम रुष्ट होकर ग्राम्य जनता के जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हो। नहीं, कभी-कभी तुम्हारी

मेरी हिमाक़त

कल्पना अपने सुनहरे परों से ग्राम्य जीवन का भी स्पर्श कर आती है। पर दुर्भाग्य कि उसे तुम्हारे सुकोमल स्पर्श का भान नहीं होता। तुम्हारी ग्राम्य सुकुमार कल्पना उसे छूकर भी उससे बिल्कुल अछूती रहती है।

उसके श्रम को तुम गाते हो, पर अपनाते नहीं; उसके हल और खेत को तुम चितेरते हो, पर जोतते-काटते नहीं; उसके चरखे को तुम पूजते हो, पर कातते नहीं।

सिवा इसके कि वे जोतते या कातते हुए रचते या गाते थे, ग्राम-गीतों और भजनों में और खूबी ही क्या है?

तारीफ़ तो इसमें है कि तुम बिना हाथ-पैर हिलाये, हृद्गत भावों के उफान से प्रेरणा पाकर नयी-नयी कविताएँ रचते रहते हो

तुम ऐसा मानने से दृढ़तापूर्वक इन्कार करते हो कि तुमसे और तुम्हारी कृतियों से दुनिया तृप्त हो गयी है या ऊब गयी है।

तुम्हारा कवि-कुल दिन-दिन बढ़ता चला जाता है, तुम्हारी नयी-नयी कृतियों के ढेर लगते जा रहे हैं—इससे तो यही लगता है कि तुम्हें अब भी विराट्-उत्पादन की आवश्यकता मालूम पड़ती है।

तुम्हारी राय में लोगों को कविता का रसास्वादन ही सदा करते रहना चाहिए। तुम गाते हो कि कविता-श्रवण, कविता-पाठ और कविता-लेखन ही सृष्टि का एकमात्र उद्देश है।

तुम्हें धरती पर पैर घसीटनेवाले मानव का कुरूप पसन्द नहीं पड़ा, इसीलिए तुम डालों पर फुदकने लगे और आकाश में विहरनेवाले सुनहरे पत्ती बन गये। श्रमजीवी मानव ईर्ष्यापूर्वक आश्चर्य करता है कि तुम कविता के रंग-बिरंगे पन्नों को फाड़कर उसके साथ पसीना क्यों नहीं बहाते!

मूढ़ श्रमजीवी तुम्हारी रहस्यपूर्ण साधना को क्या समझे ! जब तुम रचना करने बैठते हो, उस समय की तुम्हारी ध्यानावस्थित या कभी-कभी विक्षिप्त-सी मुखमुद्रा देख बेचारा हकबका जाता है। तुम्हारी साधना सतत चलती है; खड़े-खड़े, बैठे-बैठे और चलते-चलते भी तुम्हारी रचनाएँ होती रहती हैं। शायद स्वप्न की बड़बड़ाहट भी तुम्हारी अनुप्रासपूर्ण निकलती होगी।

तुम्हारी साधना की क़द्र न करनेवाले निश्चय ही नर-पशु हैं। श्रमसाधक, भला, रससिद्धों की महिमा कैसे जान सकते हैं ! कहाँ समृद्ध कलाकार, कहाँ ग़रीब धान्यकार !

कवि ! तुम 'केवल कवि' हो, इतना ही तुम्हारे लिए काफ़ी है।

: २ :

कलाकार से

उस दिन एक तृण-पर्ण-शून्य टीले पर खड़ा-खड़ा मैं अपने औंधे घड़े को बजा रहा था। तुम्हारे कुछ कलाकार साथियों को उसमें कुछ कुतूहल-सा लगा। पूछने लगे—"इस औंधे घड़े में तुझे ऐसा क्या सुन्दर दीखा, जो मस्ती में झूम-झूमकर तू इसकी खोपड़ी पर यह कर्ण-कटु ताल दे रहा है?"

मेरा जवाब था—"भगवान् बुद्ध के संवादों के अन्त में प्रायः आता है कि 'जैसे औंधे घड़े को सीधा कर दिया!' यह वाक्य वहाँ शंका-समाधान के अर्थ में दोहराया जाता था। मैं इस घड़े पर इसलिए अंगुलिप्रहार करता हूँ कि यह सदा औंधा ही बना रहे—कभी सीधा न हो। नहीं तो ज्ञान-संचारक शंकाओं का समाधान हो जायेगा।"

शंका का समाधान या निवारण क्यों हो? कलाकारो, शंका के चिर अस्तित्व में ही तो तुम्हारी कला की समृद्धि है। शंका के श्मशान पर कला भला कभी फूल-फल सकती है?

शंका में जो अस्पष्टता होतीजो वक्रता दीखती है, वही तो कला की जान है।

घड़े को मैं सीधा करदूँ, तो शंकाओं का निवारण हो जायेगा, अस्पष्टता खुल जायेगी, वक्रता मिट जायेगी। स्पष्टता और सरलता की भित्ति पर तुम्हारी कला एक क्षण भी न टिक सकेगी। तुम्हारे लिए वह स्वागत की वस्तु नहीं। तुम्हारी कला आबाद रहे, इसी-लिए मैं घड़े की औंधी खोपड़ी पर अंगुलि-ताड़न किया करता हूँ। ऐसी कल्याणकारी प्रक्रिया को तुम कला के लिए घातक समझ बैठे हो—यह कितने आश्चर्य की बात है!

सुना था कि पोषण-क्रिया में कला का दर्शन होता है, पर मुझे तो उसका संपूर्ण दर्शन शोषण-क्रिया में हुआ। जाड़े के दिनों में घी तुम घड़े में से टेढ़ी अंगुलियों से निकालते हो—सीधी अंगुलियों से तुमने कभी शोषण किया है? सो वक्रता में ही कला का विकास है।

समन्वय के इस युग में राजनीति और कला के बीच कोई ऐसा भारी भेद नहीं रहा। रहा होगा कोई प्रागैतिहासिक युग, जब राज-नीति तो एक रास्ते जाती होगी, और कला दूसरे रास्ते। तब शायद कला उपयोगितावाद के दर्पण के सामने खड़ी होकर अपना सौंदर्य निहारती होगी। तब तुम्हारी कला का हृदय सरल या मुग्ध रहा होगा—आधुनिक कलाविदों की भाषा में 'सड़ा'। और तब कला आभोंड़ी-सी होगी, सलौनी नहीं।

जैसे आधुनिक राजनीति में सीधे बात करना गुनाह है, वैसे ही कला में पेचीदा मार्ग से हटना बेढंगापन है।

उपयोगिता से तुम्हारी ललित कलाओं का सदा असहकार-सा रहता है। तुम्हारा प्रश्न है कि सिगरेट के धुएँ का शून्य अन्तरिक्ष

में समा जाना क्या कोई अर्थ रखता है ? उपयोगिता क्यों टाँग
अड़ाये धूम्र की निरुद्देश्य शून्य-पथ की महायात्रा में ?

उपयोगिता के पैरों से जो लोग ज़मीन पर सीधी-सादी गति से
चलते हैं, उन्हें तुम्हारी कला के सुनहरे पर उपहास की दृष्टि से
देखें, तो इसमें किसीको बुरा लगने की क्या बात है ?

कलाकारो, सामान्य जनसमाज पर तुम कभी रहम न खाना।
पर वह तुम्हारा अपराधी सामान्य समाज अपने ठोस पैरों को कैसे काट
डाले ? और कैसे उगाले सुनहरे पंख अनन्त अन्तरिक्ष-पथ में
रहस्यमयी उड़ान भरने के लिए ? यह भद्दा मानव आखिर कैसे
काल्पनिक विहग बन जाये ?

तुम्हें तो सभी कुछ टेढ़ा-ही-टेढ़ा चाहिए। तुम्हारी स्थापत्य-कला में
सैंकड़ों टेढ़े-टेढ़े प्रस्तर-खंड चाहिएँ। तुम्हारी चित्र-कला में मानव-
आकृतियाँ टेढ़ी-तिरछी उलझी हुई चाहिएँ। ब्रह्मा की सरल सृष्टि
में चित्र-कला द्वारा सुधार करते-करते तुम कभी थकते नहीं। तुम्हारी
काव्य-कला के लिए भी टेढ़े भाव और टेढ़े शब्द चाहिएँ। तुम्हारी
ललित कलाएँ न सीधी हैं, न बिल्कुल गोल। उनमें अनेक कोण
हैं, किसी भी कोण से, किसी भी मोड़ से चाहे जो अर्थ-दर्शन किया
जा सकता है।

तुममें से कोई-कोई जीवन को ही कला मानते हैं। किन्तु
जीवन कोई प्रकट-सी चीज़ नहीं है। अथवा, उसे कला के टेढ़े-
मेढ़े साँचे में ढालकर जटिल बना दिया गया है।

कहते हैं, विश्वामित्र ने अपनी एक अलग ही सृष्टि रच डाली
थी। तुम कलाकारों ने भी तो अपनी-अपनी सृष्टि रची है, और
तुम्हारे कल्पना-गर्भ में अब भी कितनी ही अभिनव सृष्टियों के बीज

पड़े हुए हैं। विश्वामित्र की सृष्टि की कुछ वस्तुएँ, कहते हैं, आज भी विकृत अवस्था में मिलती हैं। नारियल भी शायद उस सृष्टि-संस्करण का एक अवशेष है और वह खासा उपयोगी है। मानव ही नहीं, देवता भी उसे लालच की निगाह से देखते हैं। पर तुम्हारी सृष्टि का अवशेष वैसा भी कोई देखने में नहीं आता। अनन्त अन्तरिक्ष में विहार करनेवाले यह धुएँ के फव्वारे अजन्ता की जीर्ण दीवारों पर विचित्र अँगुलियों का भले ही जाल बुना करें, किन्तु जटा-जूटधारी ऋषि-कल्प नारियल ने जो स्थान नर-समाज और देवसमाज में क़ायम कर रक्खा है, वह तुम्हारे उलझानेवाले इन धूम्रजालों या अंगुलि-निर्देशों में नहीं मिलता।

तुमने कुदाली-फावड़े को उछल-कूद को भी कभी कला माना है? तुम्हारी दृष्टि में हल का चित्रांकण भी कलाओं में स्थान नहीं पाता—यद्यपि मजूर और किसान की छाती पर सवार होकर तुम्हारी ललित कलाएँ कभी-कभी 'ग्रामों की ओर' भी चक्कर लगा आती हैं।

कभी किसी युग में गाया जाता था—'सत्यता में सुन्दरता है, सरलता में सुन्दरता है, प्रामाणिकता में सुन्दरता है।'

सुन्दरता का रूप-दर्शन अपने से बाहर कब करते थे तब? सुन्दरता तब शायद नीति की सखी रही होगी।

पर आज तो कला के मोहक द्वार पर नीति एक अजनबी-सी खड़ी है। तुम्हारी कला इस अजनबी मेहमान का आतिथ्य करेगी, या शून्य-पथ में ही निरुद्देश्य चक्कर लगाती रहेगी?

किन्तु यह तो शंकाओं का समाधान होने-जैसी बात हुई। तुम्हारी दुनिया में तो घड़े का औंधा रहना ही अच्छा है।

: ३ :

चित्रकार से

चित्रकार, तुम्हारी सुकुमार अँगुलियों में गज़ब की शक्ति है; और उसका सदुपयोग भी तुम खूब करते हो।

तुम्हारी कुशल अँगुलियों ने दृश्य, कल्पना और कला का बड़ा आकर्षक जाल बुना है। तुम्हारे इस सुन्दर जाल में फँसने के लिए अच्छे-अच्छे नेत्रवान प्रतिस्पर्धा करते हैं।

प्रतिकृति में तुम वास्तविक आकृति को बड़ी कुशलता से उतार देते हो—बल्कि कभी-कभी तो अपनी बनायी प्रतिकृतियों को ही तुम वास्तविक समझने लगते हो, अथवा अवास्तविक के आगे वास्तविक को भूल जाते हो।

वास्तविक जगत् को सचमुच तुम चित्रपट के आगे कोई अधिक महत्त्व नहीं देते; तुम्हारी दृष्टि में कला का फलितार्थ भी यही है।

कुछ क्षणों के लिए जगत् के रंग-बिरंगे दृश्यों के साथ ज़रूर तुम्हारा तादात्म्य हो जाता है। तूलिका द्वारा काग़ज़ पर उतारकर उन्हें तुम फिर भूल जाते हो। तुम्हारी इस अनासक्त साधना का जितना भी बखान किया जाये, उतना थोड़ा है।

रेखाओं और रंगों में तुम इतने तन्मय हो जाते हो कि दुनिया की गति-विधि का तुम्हें भान भी नहीं रहता। वर्षा के अभाव में खेत जब झुलसते होते हैं, तब तुम रमणीक उद्यानों और सरोवरों के सुन्दर दृश्य चित्रित करने में मग्न रहते हो। या, लोगों की झोंपड़ियाँ जब धायँ-धायँ जलती होती हैं, तब तुम अजंता और ताजमहल के चित्रांकण में ध्यानस्थ रहते हो।

कुछ भी हो, कला की साधना तुम्हारी निर्बाध गति से चलती रहती है। कारण, तुम्हारी कला केवल कला के लिए होती है; स्थूल जगत् के साथ तो उसका केवल चित्रगत सम्बन्ध रहता है।

तुम्हारे कला-दर्शन में सामान्य आँख काम नहीं देती। तुम कहते हो कि पूरी खुली आँखों से कला का दर्शन ठीक-ठीक नहीं हो सकता, इसलिए पलकों को ज़रूर आधा गिरा देना चाहिए—अर्द्धोन्मीलित आँख अधिक काम देती है।

पर शायद यह भी एक ख़याल ही है। असल में, कला-दर्शन की आँख तो कुछ और ही आकार-प्रकार की होती होगी।

सामान्य मानव की खुली या अधमुँदी आँख को तुम्हारे चित्र की आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ विचित्र-सी ही मालूम देती हैं। तुम्हारी रहस्यमयी कला की क़द्र करनेवाले जिस आकृति को सुन्दर कहते हैं, वह सामान्य आँख को विरूप और अटपटी-सी दिखाई देती है

उस आश्चर्य-विमूढ़ दर्शक के मन में होता है कि उसके

सजातीय मानव की आँखें किसी युग में ऊपर को तनी हुई या बिल्कुल झुकी हुई होती होंगी। उसे चित्र के मनुष्य की नाक भी अजीब-सी दिखाती है। उसकी पतली-टेढ़ी अँगुलियों की उलझन तो उसकी समझ में कभी आती ही नहीं। असल में, तुम्हारे चित्र का मानव कुछ भिन्न-सा होता है; या कम-से-कम उसे ऐसा लगता है।

और अब तो तुम प्रकृति के बिल्कुल समीप पहुँच गये हो। चित्रों को निरावरण बना-बनाकर मनुष्य को तुम फिर प्रकृति की ओर ले जा रहे हो, जो विकास के फेर में पड़कर संस्कृति की भूल-भुलैयों में कहीं-से-कहीं भटक गया था !

सामान्य दर्शक को, जो निश्चय ही अरसिक होता है, तुम्हारी बनायी नग्न आकृतियों में अश्लीलता की गंध आती है। किन्तु धन्य है तुम्हारी प्रकृति-उपासना, कि तुम उस दर्शक की अनधिकार-पूर्ण आलोचना पर कभी ध्यान नहीं देते !

तुम्हें आश्चर्य होता है कि प्रकृति और पुरुष को, प्राचीन दार्शनिकों की भाँति, तुम यदि 'निरावरण' मानते हो, तो उसमें किसीको अश्लीलता की गन्ध क्यों आये !

फिर नर और नारी की आकृतियाँ आकाश की तरह शून्यरूप तो हैं नहीं, जो उनपर रंग-बिरंगे बादलों की भाँति आवरण शोभा दें।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल सही है कि कला-शून्य दृष्टि ही अश्लीलता-दर्शन के नेत्र-रोग से पीड़ित रहती है। दूषित दृष्टिवालों को इतना अधिक मतिभ्रम हो जाता है कि वे वास्तविक सुरा और सुन्दरी में भी अध्यात्म देखने का उपहास्य प्रयत्न करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार तुम मानते हो कि नीति तो प्राकृत अवस्था के पूर्व की अधकच्ची-सी कल्पना है—और यही कारण है कि तुम्हारे किसी-किसी चित्र में निरावरण अवस्था की खासी कलापूर्ण अभिव्यक्ति रहती है।

तुम्हारी तन्मयता की तारीफ़ कहाँतक की जाये ? कभी-कभी तो यहाँतक देखा जाता है कि काग़ज़ की तरफ़ तुम देखते भी नहीं, तुम्हारी नज़र आकाश की ओर होती है, और तुम्हारी पेंसिल यूँ ही प्रकंपन किया करती है, पर काग़ज़ पर तुम्हारे अंतस्तल की भाव-रेखाएँ आप-ही-आप खिंच जाती हैं। तुम्हारे प्रशंसक कहते हैं कि अज्ञातरूप से खिंची हुई उन अद्भुत रेखाओं की अव्यक्त-स कला अत्यन्त उच्च कोटि की होती है।

सामान्य आँखें उस चित्रकला को देखकर हँस पड़ती हैं—ऐसा दीखता है, मानो किसी अबोध बच्चे ने काग़ज़ और रंग को यूँही छेड़ दिया हो !

उस उत्प्रेक्षा को तो तुम स्वीकार करते हो, पर ज़रा दार्शनिक ढंग से। तुम कहते हो कि कला ऐसी निर्दोष और निरावरण होनी चाहिए, जैसी कि बालक की अबोध अवस्था।

तुम शायद उस अस्पष्ट चित्रकला का इस उपमा से भी समर्थन करोगे कि मस्तिष्क के अंदर भी तो इसी तरह की अनगिनती आड़ी-टेढ़ी लकीरें खिंची हुई हैं, पर उनमें से कितना अनंत ज्ञान प्रवाहित होता रहता है।

कभी तो तुम बहुत हल्के और फीके रंगों से काम लेते हो, और कभी खूब गहरे और चटकीले रंगों से; मगर वैज्ञानिकता को तुम दोनों ही प्रकारों में साबित करते हो। रंगों के तुम्हारे संमिश्रणों

को हर कोई नहीं समझ सकता। प्रत्येक संमिश्रण में तुम्हारी मान्यता के अनुसार अलग-अलग रहस्य अंतर्हित होता है।

राजनेता के आगे राजनीतिक गुत्थियों का और तत्त्ववेत्ता के सामने दार्शनिक विवादों का जो मूल्य होता है, उससे कहीं अधिक मूल्य तुम्हारे आगे रेखाओं और रंगों की समस्याओं का होता है।

अति प्राचीन काल के हिमायती कहते हैं कि तब की चित्र-कला बहुत अधिक व्यापक थी, और उसके उपकरण भी अत्यंत सुगम और सरल थे।

घर-घर स्त्रियाँ पत्तों के रस से और गोबर व मिट्टी तक से चित्र बना लिया करती थीं। कोई-कोई तो तीनों लोकों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुषों तथा दृश्यों के अनदेखे चित्र भी खींचकर रख देती थीं।

ऐसा शायद हुआ भी हो, पर उन गोबर-मिट्टी के चित्रों के पीछे न तो कोई विज्ञान रहा होगा, न कोई साहित्य।

उस युग का चित्रकार कुछ वैसा ही होगा जैसा कि तब का कवि। वैज्ञानिक कसौटी पर न तो तब का कवि कसा गया था, न चित्रकार।

उनकी उँगलियाँ लकीरों को केवल खींचना ही जानती थीं, उन्हें सोच-सोचकर सँवारना नहीं। उनके पास रेखाओं को मिटाने का शायद कोई साधन नहीं था। चित्ररेखाएँ तो तुम्हारी बिल्कुल सही बनती हैं, क्योंकि रबर से तुम उन्हें बारबार मिटाना जानते हो। तुम अपना निश्चय अनेक अनिश्चयों के बाद बनाते हो, यही तो तुम्हारी कला-कुशलता है।

कहते हैं, जिस चित्र को तुम पूरा नहीं कर पाते, उसे कवि पूरा कर देता है और जिसे कवि अधूरा छोड़ जाता है, उसे तुम पूरा कर देते हो।

तुम दोनों इसीलिए एक दूसरे की सृष्टि के पूरक हो। तुम दोनों के उपास्य भी प्रायः एक ही रहे—राजा और नारी, और इन्हींका सांगोपांग साहित्य। यह अच्छा हुआ कि साधारण जन-समाज पर तुम दोनों की दृष्टि नहीं गयी--यद्यपि कभी-कभी कवि ने अपनी लेखनी से और तुमने अपनी तूलिका से उसका भी एकाध चित्र मनोरंजनार्थ खींच डाला।

मगर उन चित्रों से न तो राजमहलों की दीवारें अलंकृत हुईं, न सुसंस्कृत नागरिकों की वाणी ही।

तुम्हारे इस साधु-स्वभाव की कौन सराहना नहीं करेगा कि तुमने अपने कलापूर्ण हृदय में कभी द्वेष या प्रतिहिंसा को जगह नहीं दी? 'केमरा' अचानक वज्र की तरह गिरा और उसने तुम्हारी नाजुक उँगलियों और रँगीली तूलिका को चूर-चूर कर दिया, पर अपनी आँखों के आगे अपनी ललित कला का विनाश देखते हुए भी, उसके विरुद्ध तुमने कभी एक शब्द तक नहीं निकाला, फोटोग्राफी को तुमने कभी दानवी के रूप में चित्रित नहीं किया।

तुमने एक और स्तुत्य कार्य किया है। दूसरों के लिए तुम्हारी कला भले ही उपयोगी न हो—यद्यपि यह बात सत्य नहीं है--पर तुमने अपने खुद के लिए तो उसे उपयोगी बना ही लिया है। तुम मानते हो कि यदि कवि की कला को नफे का पेशा बनाया जा सकता है, तो चित्रकार की कला को क्यों नहीं? यह कैसे हो सकता है कि जो चीज़ मनोरंजनार्थ हो, वह अर्जनार्थ न हो?

जब बढ़ई लकड़ी छील-छालकर कमा लेता है, दर्जी सिलाई करके, नाई दाढ़ी मूँड़कर और किसान हल चलाकर पैदा

करता है, तब चित्रकार और कवि पर ही उपार्जन का प्रति
क्यों लगाया जाये ? और फिर उस हालत में, जब कि
दरज़ी, नाई और किसान के पेशों से चित्रकार और कवि का
मानव-जीवन के लिए कहीं अधिक मूल्यवान् और आवश्यक

:४:

लेखक से

तुम कुछ-न-कुछ साधारण या असाधारण बात लिखने के लिए आखिर इतने व्याकुल क्यों रहते हो? क्या तुम्हें लगता है कि तुम अपनी लेखनी द्वारा अपूर्ण जगत् में सम्पूर्णता भर दोगे?

तुम्हारे शब्दों में क्या सचमुच इतनी शक्ति है कि वह अपूर्ण को पूर्ण की ओर ले जायें? असुंदर को सुंदर में परिणत कर दे? कदाचित् हो, किंतु पूर्णता और सुन्दरता की व्याख्या वह खुद तुम्हारी ही कल्पना की होगी। उससे तुम्हारे सीमित कर्त्तृत्व को शायद संतोष मिल जाता हो। पर सुना और देखा तो यह जाता है कि पूर्ण और सुन्दर तुम्हारे शब्दों की तरफ़ कभी अपना रुख भी नहीं करते।

और सब की तरह सामान्य बने रहने में शायद कोई ग़लती है। सामान्यतः जीवन का विकास होने देने में शायद कोई हर्ज़

है। शायद उसमें कुछ कम साहित्यिकता है। तुम्हारे असामान्य
शब्द-सृष्टा बनने के प्रयास में जीवन-कला यदि रूठ जाये, तो वह
बहुत बड़ी भूल होगी। कुछ नासमझ कहते हैं कि तुम्हारे इस
प्रयास में जगत् का कोई हित-साधन तो होगा नहीं; तुम्हारा खुद
का भी अहित ही होगा!

क्या तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज़ देने
को है कि वह न दी गयी, तो संसार में सूनापन-सा आ जायेगा? दिल
या दिमाग़ पर विचारों का जब इतना बड़ा बोझ रखा हुआ है,
तो उसे बिना बोले या बिना लिखे तुम कैसे हल्का कर सकते हो?
सच है, जो विचार सामान्य को भाररूप प्रतीत नहीं होते, वे असा-
मान्य बनने की चेष्टा करनेवाले तुम लेखकों को विकल कर देते
हैं। सामान्य लोगों के सामान्य विचार उनके जीवन से झट-पट
तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं; यह नहीं कि तुम्हारी तरह विचार-
संपत्ति जीवन से नाता तोड़कर एक बोझा बन जाये। लेकिन उस
बोझ को हल्का करने का तुम्हारा यह तरीक़ा भी बड़ा सुन्दर है।

कभी-कभी प्रश्न उठता है कि तुम ढेरों शब्द बोलते हो, और
ढेरों लिखते हो, पर उसमें से सार-तत्व कितना निकलता है? प्रश्न-
कार की समझ में नहीं आता कि तुम्हारा कोई व्यापार तो है
नहीं कि उसका कुछ लाभ निकाला जा सके। और फिर
तुमने तो गणित शास्त्र से हिसाब लगाकर देख ही लिया होगा कि
काग़ज़, क़लम और स्याही का जितना खर्च बढ़ा है, उसके
मुक़ाबले जीवन को 'जीवन' बनानेवाले ज्ञान में कितनी अधिक
वृद्धि हुई है। ज़रा जिनके आँख हो वे देखें कि परस्पर के विश्वास
और प्रेम ने तुम्हारे निर्दिष्ट मार्ग पर कितनी ज्यादा प्रगति की है।

सत्य की कितनी तमाम प्रकाश-किरणें तुम्हारी वाणी और लेखनी ने तुम्हारी प्रवृत्तियों पर बिखेरी हैं। तुम्हारी रचनाओं से अँधेरे जगत् में एक नया प्रकाश फैला दिया है। तुमने जीवन-प्रकाश का अभाव अनुभव करके जगत् को साधारण तल से ऊँचा उठाने की गरज़ से ही लेखनी पकड़ी है। क्या हुआ कि तुम्हारा जगत् रेल-गाड़ी के डिब्बे की तरह है और प्रकाश केवल उसीके अन्दर है, बाहर उसके, दूर-दूर तक घोर अँधेरा काले-काले पर फैलाये दौड़ रहा है! तुम्हारे इस दावे में ज़रा भी ग़लती नहीं कि तुमने जगत् को महान् प्रकाश दिया है। मगर जगत् कितना कृतघ्न है कि मानता ही नहीं कि वह तुम्हारे अर्थ-विहीन शब्द-प्रकाश से आलोकित है!

आश्चर्य है कि इतने तमाम सन्देश, इतने सारे लेख विविध विषयों पर तुम्हारे पास हमेशा तैयार रहते हैं। हर किसीकी रुचि को सन्तोष देने की इस कला में तुम कितने निष्णात हो! तुम्हारा यह धंधा कितना सरस है कि इससे तुम्हें कभी असंतुष्टि और आत्म-ग्लानि नहीं होती।

तुम्हारे धंधे की दुनिया में जब कोई क़द्र नहीं होती, तब तुम्हारा शिकायत करना बिल्कुल उचित है। जनता के साथ तुम कितना बड़ा अहसान करते हो, फिर भी वह तुम्हारी क़द्र नहीं करती। तुम जो क़लम घिसते-घिसते भी भूखों मरते हो, कर्ज़दार रहते हो, इससे सिद्ध होता है कि जिसे तुम साहित्य-साधना का नाम दिये बैठे हो, उसे अरसिक जनता शायद व्यर्थ का धंधा समझती है। अपने-अपने काम-धन्धे में लोग ऐसे लगे हुए हैं कि तुम्हारे अहसानमंद होंने और तुम्हारी पूजा-प्रतिष्ठा करने की भी उन्हें फ़ुर्सत नहीं!

तुम कल्पनाओं का कैसा सुन्दर हवाई मार्ग बना रहे हो, जब कि वे आवागमन की सामान्य सड़क बनाने में लग रहे हैं। और वे तो तुम्हें भी बुलाते हैं कि उनके साथ तुम भी कंकड़ तोड़-तोड़कर उस पर बिछाओ और पानी और मुरम डालकर उसे दुरमुट से खूब कूटो।

तुम्हारे लिए वे कोई 'निधि' भी इकट्ठी नहीं करते। कहते हैं कि क़लम पकड़ते-पकड़ते लेखकों के हाथ क्या इतने कमज़ोर और निकम्मे हो गये हैं कि उनसे घास की दस पूलियाँ भी नहीं कटतीं? दस-पाँच दरख्त भी नहीं सींच सकते? क्या आजतक उन्होंने जगत् को भ्रान्त और जड़ बनाना ही सीखा? लोगों की यह कितनी घोरतम अरसिकता है!

तुम्हारे खिलाफ शिकायत है कि अगर रहँट, कोल्हू या चक्की चलाने के लिए तुम्हारी छाती समर्थ नहीं, तो समाज और देश का भार वहन करने का तुम्हारा यह शाब्दिक दावा बिल्कुल निकम्मा है। तबतक ऐसी ऊलजलूल बातों का जवाब न देना ही अच्छा है, जबतक कि तुम मानते हो कि जो कुछ तुम लिखते हो उससे प्रभावित होनेवाले लोगों की दुनिया में एक बहुत बड़ी संख्या है।

जैसे लोक में कुशल-क्षेम पूछा जाता है, उसी तरह जब तुम किसी अन्य साहित्यकार या लेखक से मिलते हो, तो तुम उससे और वह तुमसे पूछता है, "कहिए, आजकल आप क्या लिख रहे हैं?" तुम्हारे समाज में लिखना मिजाज़पुर्सी की तरह आवश्यक और सहज-सा बन गया है।

तुम्हारी इस लेखन-प्रियता ने तुम्हें सामान्य से अलग और असामान्य से बहुत दूर फेंक दिया है, और यह तुम्हारे हक़ में अच्छा ही हुआ।

तुम्हारा "स्वान्तः सुखाय" लिखने का दावा भी बड़ा सुन्दर है। वे लोग अपने आपको सुखी बनाना भला क्या जानें, जिनके हाथ क़लम और स्याही से हमेशा अछूते रहते हैं, और जो श्रम और संतोष के संपर्क में आकर अपनी बहती हुई जीवन-धारा को सामान्य मनुष्य की तरह प्यार करते रहते हैं ?

तुम्हारा कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि "स्वान्तः सुख" जब कि स्वयंतृप्ति का सहज परिणाम है, मूकत्व का प्रसाद है, तब उसके लिए कुछ-न-कुछ लिखने की तो खास आवश्यकता है।

: ५ :

पत्रकार से

पत्रकार ! नये-नये समाचारों के तुम केवल प्रचारक ही नहीं, बल्कि उत्पादक भी हो। तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क और प्रगतिशील लेखनी की सृजन-शक्ति अद्भुत है। प्रशान्त वातावरण को तो तुम उपहास और घृणा की नज़र से देखते हो, उसमें सनसनी पैदा करने के लिए तुम सदा व्याकुल रहते हो !

तुमने कुछ अजब मोहिनी डाल रखी है। अख़बारों के उपासकों को तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क की नयी-नयी कृतियों का दर्शन जबतक नहीं हो जाता, तबतक उन्हें अपना जीवन और जगत् सूना और नीरस लगता है। अख़बार-वाहक को ज़रा-सी भी देर कभी हो गयी, तो उपासकों की व्याकुलता कुछ-कुछ वैसी ही देखने में आती है, जैसी कि धूम्र-पान करनेवालों की सबेरे-सबेरे बीड़ी-सिगरेट न मिलने पर होती है। बड़े-बड़े शहरों में वे ब्राह्ममुहूर्त से ही पत्र-

उपासना करने बैठ जाते हैं। सबसे पहले वे तुम्हारे बड़े-बड़े शीर्षक-सूत्रों का दर्शन करते हैं। देखते हैं—आपस में लोग कहाँ-कहाँ लड़-मरे; कहाँ आज भीषण दंगा हुआ; कहाँ रेलगाड़ियाँ लड़ीं; कहाँ जहाज डूबा; कहाँ अग्नि-काण्ड हुआ; कहाँ कैसी उथल-पुथल हुई!

तुम खोज-खोजकर देते भी ऐसे ही अमंगल समाचार हो! तुम पत्रकारों की दृष्टि में अमंगल ही सृष्टि का आदि है, और अमंगल ही अन्त। बर्बर-युग के मनुष्य ब्राह्ममुहूर्त में मंगल-उपासना करते थे। आज के मनुष्य तुम्हारे घोर प्रयास से अमंगल की आराधना करने लगे हैं। उनके रूढ़िप्रिय मानस में तुमने यह ग़जब की क्रांति की है!

तुम चाहते हो कि दुनिया में सदा उथल-पुथल ही मची रहे; मेदिनी यह प्रतिक्षण काँपती ही रहे। स्थिरता या शांति को तो तुमने मृत्यु का नाम दे रखा है, और अस्थिरता या अशांति को जीवन का।

लोगों की सामान्य बुद्धि को तुमने कुछ ऐसा खरीद लिया है कि उसपर अब दूसरा कोई रंग ही नहीं चढ़ता। अखबार की बात को ही वे 'ब्रह्म-वाक्य' मानते हैं। रात को चाहे मूसलधार वर्षा हुई हो, पर दैनिक पत्र के प्रभात-संस्करण में यदि वर्षा का उल्लेख न हो, तो गीला आँगन देखकर शायद वे यही कहेंगे कि उनकी आँखें ही उन्हें धोखा दे रही हैं!

अधिकांश को तुम अपने कौशल से इस भ्रम में डाले रहते हो कि तुम किसी खास उद्देश्य या आदर्श को लेकर अखबार निकालते हो। कम-से-कम तुम दावा तो ऐसा ही करते हो। किंतु

तुम्हारे वास्तविक उद्देश का ठीक-ठीक पता कितने पढ़नेवालों को लगता है? विज्ञापन के योगक्षेम का ज्ञान थोड़े-से ही वाचकों को होगा।

तुम्हारे सद्भाग्य से तुम्हारे अखबार की एक-एक पंक्ति प्रामाण्य समझकर पढ़ी जाती है। पढ़नेवालों की मंद बुद्धि निर्णय कर ही नहीं सकती, जब एक कालम में तो ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-संयम की स्तुति देखने में आती है, और ठीक वहीं उसके सामने उत्तेजक औषधियों का अश्लील विज्ञापन छपा रहता है। एक तरफ़ वे गुड़ की महिमा का लेख देखते हैं, दूसरी तरफ़ चीनी के विज्ञापन में गुड़ का बुरी तरह मज़ाक उड़ाया जाता है—वाचक किसे त्यागे, और किसे ग्रहण करे? लेख में तो दातुन का गुण गाया जाता है, और विज्ञापन में बालों की भाड़ू से दाँत बुहारने की सिफ़ारिश की जाती है! एक जगह ग्रामीण चमारों की दुर्गति का उल्लेख रहता है, तो दूसरी तरफ़ 'बाटा' के जूतों का विज्ञापन!

और चाय को तो तुम पत्रकारों ने वह आध्यात्मिक स्थान दे दिया है, जो उमर खय्याम ने अंगूरी शराब को दिया था!

तुम्हारे अखबारों का उदर कितना बड़ा है! कैसे ही सड़े-गंदे विज्ञापन हों, भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बग़ैर अपने विशाल उदर को वे हमेशा भरते ही रहते हैं। सिनेमा का विज्ञापन तो उनका मुख्य आहार है। संस्कृति और चारित्र्य का वर्द्धक सिनेमा तुम्हारे अखबारों की नसों में रक्त-संचार करता है, और अखबार सिनेमा को जीवन-दान देते हैं। कई अखबारों को देखकर तो ऐसा लगता है कि उनका जन्म मानो चित्रपटों और उत्तेजक दवाइयों के सत्-प्रचार के लिए ही हुआ है।

लोगों को तुम साहस के साथ विनाश-पथ की ओर लिये जा रहे हो, पर तुमने उन्हें कुछ ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि उन्हें इसका पता भी नहीं। उनकी श्रद्धामयी दृष्टि में तुम ज्ञान-विज्ञान के प्रचारक और स्वर्गीय संदेशों के अपूर्व वाहक हो।

जब तुम कोई नया पत्र निकालना चाहते हो, तब उसके उद्देश और तुम्हारे बड़े-बड़े दावे देखते ह बनते हैं। तुम धरा-धाम पर स्वर्ग का राज उतार देने का दावा करते हो। तुम मान लेते हो कि समाज में जैसे जीवन नहीं रहा, और तुम उसमें अपने पत्र द्वारा जीवन-रस डाल दोगे। लोग तुम्हारी आकाश-वाटिका पर मोहित हो जाते हैं। इस विश्व-प्रवंचना पर तुम्हें आत्मग्लानि क्यों हो?

तुम्हें हमेशा दूर की ही सूझती है; तुम्हारा ज्ञान दूर-दूर के देशों का ही होता है; तुम्हारा सब-कुछ विराट्-ही-विराट् होता है। पास की चीज़ तुम्हें नज़र नहीं आती, छोटी-छोटी बातों पर तुम कभी ध्यान नहीं देते। कारण, चिन्ता तुम्हें समूचे राष्ट्र और विश्व-ब्रह्माण्ड के व्यापक कल्याण की है!

तुम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियों और समझौतों की बारीकियों पर बहस करते नहीं थकते। पर इन छोटी-छोटी बातों का तुम्हें पता नहीं रहता कि तुम्हारे चूल्हे में जो लकड़ियाँ जलती हैं वे बाज़ार से क्या भाव आती हैं, और भिंडी आजकल आलू के भाव से सस्ती है कि महँगी!

दूर-दूर के शहरों की गलीज़ बस्तियों पर दुनिया का ध्यान खींचने के लिए तुम बढ़िया-से-बढ़िया सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखते हो; पर सम्पादकीय कमरे के सामने जो कचरे का ढेर लगा रहता है, और पिछवाड़े जो डोमों की नरक-तुल्य बस्ती है, वहाँ तुम्हारी सूक्ष्म दृष्टि कभी जाती ही नहीं!

इतना तमाम विष फैलाये बग़ैर किसी दूसरे साधन से उपार्जन करना तुम्हें पसन्द नहीं। तुम अपना और अपने पत्रों का अस्तित्व क़ायम रखने के लिए जगत् में विष-बीज बोते कभी थकते भी नहीं। क़ौम-क़ौम के बीच, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तुम द्वेष और विग्रह नगण्य स्वार्थ की खातिर खड़े कर देते हो—तुम्हारा उपार्जन का यह तरीक़ा सचमुच बड़ा सात्त्विक है।

तुम्हारे प्रति अद्भुत श्रद्धा-भाव रखा जाता है। गली-कूचों या नालियों में लोग गन्दगी देखते हैं, तो म्यूनिसिपैलिटियों से शिकायत करते हैं, पर तुम जो रोज़-रोज़ लोगों के दिलों और दिमाग़ों में गन्दगी फैला रहे हो, इसकी शिकायत कभी आजतक सुनी गयी है?

तुम्हारे जीवित अनुभव और मूक साधना ने तुम्हें इतना ज्यादा व्याकुल कर दिया है कि तुम सोचते हो कि तुमने अगर अख़बार न निकाला, तो तुम्हारे विचारों का लाभ उठाये बग़ैर दुनिया का काम चल नहीं सकेगा।

जहाँ तुम्हारे अख़बार नहीं पहुँचते, वहाँ शायद घोर अँधेरा छाया रहता होगा। वहाँ शायद दूर-दूर की बातों से लोग बेखबर रहते होंगे, अपने नज़दीकवालों को भले ही वे ठीक-ठीक पहचानते हों। दुःख की बात है कि उन अज्ञान-ग्रस्तों की आँखें उनकी 'अपनी' होती हैं, 'अखबारी' नहीं।

पाँच, दस साल के लिए तमाम अखबारों को अगर विश्राम दे दिया जाये, तो अख़बारी ज्ञान की पवित्र छाया न पड़ने से विश्व-कल्याण का स्रोत बिल्कुल बन्द हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं।

: ६ :

नेता से

तुम नेता हो, भूले-भटके गुमराह को अपने पीछे-पीछे ले चलनेवाले हो। पीछे चलने के लिए श्रद्धालु जनता भी तुम्हारे साथ है। पर ले कहाँ जाओगे, यह सब समझने-समझाने की आवश्यकता नहीं ! अनुयायियों या राहगीरों को यह प्रश्न पूछना भी नहीं चाहिए। गुमराह को गुस्ताख नहीं होना चाहिए।

राह दिखानेवाले के लिए यह आवश्यक नहीं कि 'मार्ग' हो ही। सम्भव है, तुम्हारे अनुयायियों को मार्ग का दर्शन ही न हो ! इसमें तुम्हारे नेतृत्व का क्या दोष ?

तुम्हारा यह सद्‌भाग्य ही है जो तुम आज नेता कहे और माने जाने लगे हो, जब कि इतनी सारी भेड़ों का निर्बाध नेतृत्व करनेवाले गड़रिये को कोई नेता नहीं कहता—यद्यपि तुम्हारे अनुयायियों में इतनी श्रद्धा नहीं जितनी कि भेड़ों में हैं।

किन्तु उस गड़रिये को अपने भेड़-संघ की वह सूक्ष्म या स्थूल चिन्ता नहीं, जो तुम्हें अपने मानव-संघ की है।

कारण शायद यह हो कि गड़रिया अपने पशु-संघ को तुम्हारी तरह जन्मना गुमराह नहीं मानता, और तुम्हारे वज्र-कन्धों पर जो दुनियाभर की चिन्ताओं और योजनाओं का भार है, इसका कारण यही है कि तुम स्वभाव से ही अपने अनुयायियों को गुमराह मान बैठते हो; और वह गवाँर गड़रिया, जिसे विवेकशून्य दुनिया ने आजतक नेता नहीं कहा अपने अनुशासन-प्रिय संघ को कभी मोह में नहीं डालता।

उसे नेतागिरी छिन जाने का भय नहीं। कारण कि वह नेता ही नहीं, जब कि तुम्हें प्रतिक्षण यह भय लगा रहता है, और इसीलिए शायद अनुयायियों को अपनाये रखना ज़रूरी हो गया है।

उन्हें तुम पहले से ही, शायद जन्म से ही—मार्गभ्रष्ट समझ लेते हो। यही कारण है कि तुम्हें निरन्तर उनके पथ-प्रदर्शन और मार्ग-निर्माण की चिन्ता लगी रहती है। तुम अपने आदर्श मार्ग को इतना अकंटक, स्वच्छ और पवित्र समझते हो कि तुम खुद उसपर चलकर उसकी स्वच्छता और पवित्रता नष्ट करना नहीं चाहते। अतः तुम्हारा मार्ग दूसरों के लिए है, तुम्हारे खुद के लिए नहीं।

बड़े-बड़े राज-प्रासादों को बनानेवाले शिल्पी क्या खुद उनमें रहने जाते हैं? इसी न्याय से, मार्ग-निर्माता स्वयम् उस मार्ग पर नहीं चला करता। तुम्हारी दृष्टि में प्रयोग और परीक्षण तो सदा दूसरों पर ही करने चाहिएँ।

तुम नेता लोग शायद किसी और ही मिट्टी के बने होते हो। नहीं तो, सामान्य जनता के और तुम्हारे बीच में क्यों इतनी अधिक भिन्नता होती ? अवश्य तुम्हारी जीवन-रचना उनसे कुछ भिन्न है। नहीं तो, सामान्य जनता का जन्मजात अधिकार आज अन्धकार और मार्ग-भ्रम क्यों होता और तुम प्रकाशप्रद और पथ-प्रदर्शक क्यों माने जाते ?

अतः यदि तुम्हारी विभिन्न प्रवृत्तियों पर सहज में असफलता और अस्वच्छता कब्ज़ा कर ले, तो तुम्हें इससे आश्चर्य और क्लेश क्यों होना चाहिए ?

तुमने अपने नेतृत्त्व द्वारा निस्सन्देह यह सिद्ध कर दिया कि सेवक सेव्य से भी महान् है। अपने को श्रद्धेय जन-सेवक बनाकर हज़ारों अनुयायियों के हृदय में तुमने सहज ही श्रद्धा-भक्ति का संचार कर दिया है।

जगत् में कोई आकर उठाते हैं, कोई गिराते हैं—यह हुई साधारण क्रियाएँ। किन्तु तुम नेताओं की विशेषता तो इसमें है कि अपने अनुयायियों को न ऊपर ही स्थिर रखो, न नीचे ही पटक दो। त्रिशंकु की तरह वे अधर लटकते रहें, तो इसमें उनका अनिष्ट ही क्या है !

तुम उन्हें अपनी निज की आँखों का उपयोग नहीं करने देते। कारण, तुम्हारी आँखें उनके लिए मौजूद जो हैं। तुम खुद अपना नेतृत्त्व करो, इसमें तुम्हें अधिक श्रम पड़ेगा। उनके अज्ञान की नींव पर अपने नेतृत्त्व को खड़ा करने में तुम्हें जो आनन्द आता है वह तुम्हें स्वाभाविक हो गया है? उस आनन्द का अभाव तुम्हें सचमुच व्याकुल कर देता है ?

मेरी हिमाक़त

तुम जो भाषा बोलते हो, उसमें संगति और स्थिरता जैसी कोई चीज़ नहीं रहती। तुम्हारी भाषा का चाहे जैसा अर्थ लगाया जा सकता है। तुम्हारे वक्तव्यों का सत्य अद्‌भुत होता है, असत अत्यन्त गूढ़। न तुम्हारी हाँ समझ में आती है, न ना। तुम्हारी भाषा में आदि से अन्त तक लपेट-ही-लपेट रहती है।

तुम्हारे सामने अपना-पराया जैसा कुछ नहीं होता। अनुयायियों के और अपने बीच में तुम सदा अभेद-बुद्धि का प्रयोग करते हो। लाभ के मामले में कभी भेद-बुद्धि से काम नहीं लेते।

वह सूखी रोटी के लिए घोर श्रम करते हैं और उस श्रम को नौकरी या मजूरी कहा जाता है। तहाँ, तुम चुपड़ी रोटियों के शरीर-श्रम बहुत कम, किन्तु बौद्धिक और वाचिक श्रम अ करते हो और उसे लोक-सेवा का नाम मिलता है। तुम्हारे प्रच पांडित्य ने ऐसी जीवन-कला और नव संस्कृति का प्रदर्शन कि कि अनुगामिनी जनता की श्रद्धा को उसका कानों-कान पत भी न चला।

तुम क्यों प्रयास करते हो कि निर्धन ग़रीब दुनिया में ज़िन्दा रहें? जीवित रहेंगे तो वे प्रयत्न करेंगे, परिणामतः धनिक बनेंगे, और पाप और पतन से सम्बन्ध जोड़ेंगे। उन्हें मिटाने के लिए फिर तुम्हें महाप्रयास करना पड़ेगा। इसलिए अच्छा तो यही है कि उन्हें रोटी के अभाव में भूखों ही मर जाने दो। पर शायद इसमें नेतृत्त्व को भय है। नेता, तुम्हारा नेतृत्त्व निर्भय बना र यह महान् धर्म है।

: ७ :

ग्रामोद्धारक से

ग़लती से कुछ लोग तुम्हें 'ग्राम-सेवक' जैसे हल्के नाम से पुकारा करते हैं। असल में तो तुम ग्रामोद्धारक हो, ग्राम-विधाता हो।

ग्राम-सेवक नाम के जीव तो दूसरे ही होते हैं। उन बेढंगे मानव-प्राणियों की तुम्हारे साथ उपमा नहीं दी जा सकती।

वे, जो अपने को देहातियों के जैसा ही बेवकूफ़ बना लेते हैं। कभी उनके हाथ में झाड़ू होती है, कभी खुरपा और कभी कुदाल। चर्खे को तो वे ग्राम-सेवक ऐसे लिये-लिये फिरते हैं, जैसे कोई बहुत बड़ी अलभ्य निधि हो। देहातों में रहते-रहते उनकी भी बुद्धि देहातियों की जैसी ही जड़ हो जाती है। उन्हें न तो सभ्य समाज में उठने-बैठने की तमीज़ होती है, न कपड़ा पहनने का शऊर।

कुछ अजीब-से प्राणी होते हैं। अपनी अयोग्यता छिपाने को कोई-कोई प्रायः मौन रहते हैं, और बोलते हैं तो अशिष्टतापूर्वक बेलिहाज़ होकर।

मेरी हिमाक़त

उन असंस्कारी ग्राम-सेवकों के साथ तुम ग्रामोद्धारकों का मुक़ाबला करना बेवकूफ़ी है। कहाँ सेवक, कहाँ उद्धारक!

ग्रामों का सचमुच यह सद्भाग्य है कि तुम जैसे श्रेष्ठ शहरातियों को उनकी याद ने आज इतना अधिक व्याकुल कर दिया है। अब उनके उत्थान में देर नहीं।

मारे व्याकुलता के देहात के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से अपनी मोटरगाड़ी को उछालते हुए तुम वहाँ 'गरुड़-गति से' पहुँच जाते हो। व्याकुलता बहुत ज्यादा बढ़ जाती है तो महीनों शहर का मुँह नहीं देखते। देहात की जटिल समस्याएँ तुम्हें वहीं गर्द और गोबर के पास बैठकर सुलझानी पड़ती हैं।

पर तुम्हारे सीधे-सादे रहन-सहन को देहात के अनघड़ लोग बड़े कुतूहल से देखते हैं। तुम उनकी झोंपड़ियों के सामने बैठकर जब चीनी मिट्टी की सुंदर प्यालियों में शहर से लायी हुई ठण्ठी चाय और बासी डबल रोटी का तथा रसहीन फलों का सेवन करते हो तब वे तुम्हारी तरफ़ अशिष्टतापूर्वक ताकने लगते हैं। तुम्हारे इतने महान् त्याग और तप की वे ग्रामीण कुछ भी क़द्र नहीं करते।

तुम्हारे हजामत के सरंजाम को, तुम्हारी साबुनदानी को, ब्रुश को, चम्मच को और तुम्हारे अखबारों और ग्रामीण अर्थशास्त्र की बड़ी-बड़ी किताबों को वे कुछ अजीब-सी दृष्टि से देखते हैं। फिर भी, तुम्हारे दयार्द्र हृदय में उनके उत्थान की व्याकुलता दिन-दिन बढ़ती ही जाती है।

दुर्भाग्यवश, उनकी कुण्ठित बुद्धि न तुम्हारे विज्ञान-संगत युक्ताहार की बात समझती है, न शास्त्रीय सफ़ाई और स्वास्थ्य की। तुम उन्हें कितनी ही नयी-नयी बातें सिखाने के लिए गाँवों की

खाक छानते फिरते हो, पर उनकी जड़ बुद्धि तुम्हारी एक भी बात को ठीक तरह से ग्रहण नहीं करती।

तुम इसीलिए दिन में कई बार उनके आगे दूध और फल के रस का, केवल उन्हींकी हित-कामना से, सेवन करते हो कि तुम्हारे सुन्दर उदाहरण से वे कुछ तो सीखें। पर उन्हें तो वही पतले से पतला मट्ठा और भात का माँड़ पीना ही पसन्द है। उनकी ज्वार-बाजरे या जौ-चने की मोटी-भोटी रोटी क्या तुम्हारी मक्खना-वेष्टित पावरोटी से कुछ सस्ती पड़ती होगी, या वह कुछ अधिक स्वादिष्ट होगी? सेब-सन्तरे को भी वे अपनी मोटी बुद्धि से रोटी-प्याज के मुक़ाबले महँगा या अस्वादिष्ट समझते होंगे, नहीं तो ऐसे स्वास्थ्यप्रद सात्त्विक आहार की अवहेलना क्यों करते?

तुम गाँव में, अपनी नमूने की कुटिया में, उनकी खातिर स्थापत्य-कला का जो थोड़ा-सा उपयोग करते हो, उसे भी वे कम-बख्त ग्रहण नहीं करते।

तुम यह ठीक ही कहते हो कि गोबर के बीच में रहते-रहते उन ग्रामीणों के दिमाग़ में भी गोबर भर गया है।

यह तो तुमने जाकर उन्हें बताया कि वे ऐसे गन्दे वातावरण में रहते हैं, जो अनेक रोगों के कीटाणुओं से भरा पड़ा है।

उन भोंदुओं को सफ़ाई और स्वास्थ्य के सूत्र समझाने में तुम्हें कितना घोर परिश्रम करना पड़ता है, जो अपने घरों को गँदले गोबर से लीपते हैं, कीटाणु फैलानेवाली गायों को अपने सिरहाने बाँधते हैं और बीमार पड़ने पर कठवैद्यों की बताई हरड़-बहेड़े की गोलियों में विश्वास करते हैं।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल ठीक है कि शहर के हृष्ट-पुष्ट लोगों

के मुक़ाबले ग्रामीणों का स्वास्थ्य जो इतना गिरा हुआ दिखाई देता है इसका सबसे ज़बर्दस्त कारण यही है कि 'जर्म-विज्ञान' से वे सर्वथा बेख़बर रहते हैं।

तुम्हारे सम्पर्क में आने से पहले उन्हें इतना भी प्रारम्भिक ज्ञान नहीं था कि संक्रामक रोग के रोगी के पास उठना-बैठना एक कितना ख़तरनाक प्रयत्न है।

मूर्ख ग्रामीण पहले तो रोगी को घेरकर उसकी खटिया के पास बैठ जाते थे। रोगी को घर से अलग कर देने का फ़र्ज़ अदा करना तो तुम्हींने उन्हें सिखाया। इस तरह निर्ममत्त्व की आध्यात्मिक शिक्षा देकर ग्रामीणों का तुमने सचमुच बड़ा उपकार किया है।

तुम उनके दिमाग़ में से उस सड़न को भी निकाल देने की चेष्टा कर रहे हो, जिसे भूल से 'धार्मिक वृत्ति' का नाम दे दिया गया है।

तुम्हारा यह प्रयास स्तुत्य है कि तुम राष्ट्रीय चेतना लानेवाले नये-नये गीत सिखाकर ग्रामीणों में पुरातन काल से प्रचलित साधु-सन्तों के सड़े-गले नीरस भजनों को उड़ा देना चाहते हो। लोक-गीतों और धार्मिक भजनों में तुम्हें राष्ट्रीय चेतना पैदा करनेवाली शक्ति दिखाई नहीं दी, यही तो तुम्हारी उद्धारक दृष्टि की निर्मलता है।

उन्हें तुम व्रत-उपवास और पूजन-अर्चन जैसे निरर्थक धार्मिक कृत्यों से विरत कर देना चाहते, यह भी तुम्हारा एक सत्प्रयत्न है।

कुछ लोगों की एक ग़लत धारणा है कि ग्रामोद्धारक ग्रामीणों से भी बहुत-कुछ सीख सकता है, अतः उसे ग्रामों में 'सीखने' की भी दृष्टि लेकर जाना चाहिए।

यह तो कुछ वैसी ही बात हुई कि अध्यापक को छात्रों से,

वैद्य को रोगियों से और नेता को अपने अनुयायियों से सीखना चाहिए।

जिन ग्रामवासियों को सब-कुछ सीखना-ही-सीखना है और सीख-सीखकर ही ऊँचा उठना है, वे तुम सिखानेवालों को भला क्या सिखायेंगे ? हो सकता है कि वे तुम्हें इस प्रकार की अर्थहीन बातें सिखाने बैठ जायें कि गेहूँ और जौ के पेड़ में क्या अन्तर होता है। उन्हें जो कुछ पुराना-धुराना आता है, उसे भुला देने का प्रयत्न करना ही तुम्हारा परमधर्म है। और इसीलिए उनके तमाम पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यों को तुम आज ग़लत ठहरा रहे हो। तुम्हारे इस प्रयत्न के परिणाम में तुम्हारी प्रतिष्ठा भी सन्निहित है।

तुम्हें तो अन्त में ग्रामों का चित्र ही बदल देना है, ग्रामवासियों के सनातन काल से चले आये अबतक के जीवन-चित्र को बिल्कुल पोंछ डालना है। और इस विराट् काया-कल्प के लिए तुम भारी परिश्रम कर रहे हो।

ग्रामीणों की हर बात की तुम इसीलिए पूछ-ताछ कर रहे हो। उनकी हालत को नापने-तौलने के लिए सैकड़ों प्रश्न तुमने तैयार कर रखे हैं। तुम्हारी कुटिया में जाँच-सम्बन्धी बीसियों फाइलें रखी हैं; दीवारों पर उन्नत देशों के नक्शे टँगे हुए हैं; ग्राम-पुनर्रचना के सैकड़ों ग्रन्थ तुमने पढ़े हैं और ढेर-के-ढेर काग़ज़ रंग डाले हैं। क्या अपने उद्धार और उत्थान में अब भी वे सन्देह करेंगे ?

चूंकि तुम्हें ग्रामीणों का सारा ही चित्र पलट देना है, इसलिए तुम उनके धर्मस्थान को दफ्तर में, उनके सत्संग को 'मीटिंग'

में और उनके आनन्द-विनोद को समाज-सुधार के गम्भीर चिन्तन-दिवस में परिणत कर देना चाहते हो।

तर्कवाद के कुठार से उनकी धर्मश्रद्धा की जड़ काट डालने का तुम्हारा यह निश्चय प्रशंसनीय है। अंध अश्रद्धा का बीजारोपण करके ग्रामों की तुम वास्तव में भारी सेवा कर रहे हो।

ग्रामीण साफ़ ही ग़लत रास्ते पर जा रहे थे। जड़ प्रकृति साथ परिचय बढ़ाते-बढ़ाते वे खुद भी जड़ बनते जा रहे हैं, सत्य तुम्हें वहाँ जाते ही स्पष्ट हो गया और प्रकृति से उन्हें हठा अलग कर दिया। सचमुच उनकी यह कितनी भारी भूल थी कि मानवी सभ्यता से सम्बन्ध न बाँधकर उन असंस्कारियों ने पशु-पक्षियों, पेड़-पत्तियों और खेत-खलिहानों से जाकर नाता जोड़ा। तुमने इस दिशा में जो सत्प्रयास किया है, उससे ग्रामोद्धार के इतिहास में तुम्हारा नाम सदा अजर-अमर रहेगा।

: ८ :

राष्ट्रकर्मी से

देखकर आश्चर्य होता है कि तुम्हारे यह अस्थिशेष कन्धे कितना बड़ा बोझ सँभाले हुए हैं ! तुम्हारा यदि आधार न होता, तो राष्ट्र अपने भार से शायद सँभल नहीं सकता था। उसका सही संतुलन तुम्हींने शायद अबतक क़ायम रखा है।

तुम्हारा सारा समय राष्ट्र के ही हित-चिंतन में जाता है। यही कारण है कि तुम्हारे खयाल में राष्ट्र अपनी गति-विधि का तुम्हें ही एकमात्र नियंता मानता है।

तुमने अपनी कर्मशीलता को कभी क्षुद्र सीमाओं से नहीं बाँधा; 'सर्व' या 'अखिल' से तुम कभी नीचे नहीं उतरे।

कुटुंब की चिन्ताओं और ज़िम्मेदारियों में फँसे रहनेवाले सामान्य लोगों ने कभी महसूस ही नहीं किया कि तुम्हारी बहुमूल्य शक्तियाँ राष्ट्र के उत्थान में किस दरियादिली के साथ खर्च हो रही हैं।

मेरी हिमाक़त

तुमने कभी अपने कुटुम्ब की पर्वा नहीं की। कमबख्त कुटुम्ब अखिल राष्ट्र के अन्दर शायद आता भ नहीं। माँ-बाप या भाई-बहनों की सेवा करनेवालों को कौन राष्ट्रकर्मी कहता ह

कुटुम्ब तो सेवा-प्रयोग के लिए बहुत ही संकुचित क्षेत्र है अतः वह उपेक्षा की चीज़ है। और नज़दीकवालों की सेव किसीने ख्याति भी प्राप्त नहीं की, जो जीवन का एक आव-श्यक अङ्ग है।

पुरातन काल में जो दस-पांच व्यक्ति प्रख्यात हुए भी, उन्हें कभी किसी कथाकार ने राष्ट्रकर्मी नहीं कहा।

श्रवण ने अपने अन्धे माता-पिता को काँवड़ में बिठाकर भले ही तमाम तीर्थों की यात्रा करायी हो, उसके जैसे अन्धभक्त राष्ट्र का भार उठानेवालों की श्रेणी में कभी आ नहीं सकते।

सीता की सारी दिन-चर्या केवल राम की निष्ठातक ह सीमित रही। ऐसी संकीर्ण निष्ठा राष्ट्र के प्रति उदासीन ही हो सकती है। और इसीलिए कवियों ने सीता को 'जगज्जननी' तो कहा, पर 'राष्ट्र-जननी' कभी नहीं कहा; क्योंकि जगत् तो राष्ट्र के सामने छोटी या खोखली-सी चीज़ है।

सौमित्रि ने करोड़ों को कब अपना प्रिय बन्धु माना था? लक्ष्मण का सेवा-क्षेत्र तो राम की कुटियातक ही सीमित था।

और भरत की भी भावना ऐसी ही संकुचित थी। राष्ट्र की विशालता का भरत को कभी दर्शन भी नहीं हुआ था। भरत क संकीर्ण दृष्टि राम की चरण-पादुकाओं तक ही सीमित रही। भोले-भाले भरत ने शायद तब नन्दीग्राम को ही राष्ट्र मान लिया होगा।

'अखिल राष्ट्रीय भावना' का पूर्ण विकास तो तुम्हारे विशाल

हृदय में हुआ है। तुम्हारे करोड़ों भाई हैं, करोड़ों बहनें हैं। तुम्हारी कर्म-निष्ठा राष्ट्र के एक छोर से चलकर या सरककर दूसरे छोरतक पहुँची है।

तुम उन लोगों के बीच में भी बैठकर राष्ट्र-कर्म कर रहे हो, जहाँ विचार तो उनके और तुम्हारे अनमिल होते ही हैं—भाषा भी जो न तुम्हारी समझते हैं और न तुम उनकी समझते हो। हाँ, अज्ञातरूप से तुम दोनों की हृत्तन्त्रियाँ ज़रूर मिल जाती हैं।

तुम्हारे राष्ट्र-धर्म में कर्म-क्षेत्र की लम्बाई-चौड़ाई मुख्य चीज़ है—तुम कोई गोताखोर तो हो नहीं कि गहरे में धँसकर डुबकी मारो, न पक्षी ही हो कि ऊँचाई पर उड़ते फिरो। तुम्हारे लिए तो इतना काफ़ी है कि तुम्हारी राष्ट्रीय आवाज़ कितनी लम्बाई-चौड़ाई तक पहुँचती है।

और आवाज़ को पहुँचाने या गुँजाने के तुम्हारे साधन भी अत्यन्त समीचीन और वैज्ञानिक हैं– अखबारों, जुलूसों और चुनावों का नैतिक सहारा लेकर तुम लाखों-करोड़ों की हृदय-गुहा में चट से प्रवेश कर जाते हो।

अभिमान तुम्हें छू भी नहीं गया। किसी भी सभा-सम्मेलन में कोई तुम्हें अध्यक्ष बनने के लिए कहे—ढले-ढलाये दो-चार नम्रता के शब्द कहने के बाद तुम तुरन्त उनका लुभावना प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हो। बारात में वर महाशय को चाहे कुछ शर्म भी लगती हो, पर तुम बिना संकोच या शर्म के राष्ट्र-कल्याण की दृष्टि से जुलूस में फूल-मालाओं से लदे हुए शरीक हो जाते हो। और उसी अनासक्तभाव से अपने मानपत्रों का पाठ और अपना जयघोष भी सुन लेते हो।

तुम इतनी लगन से राष्ट्र की ख़ातिर काम करते हो कि तुम्हें अपने बहुमूल्य शरीर की सार-सँभाल तक का ध्यान नहीं रहता। असल में, तुम अपने शरीर को 'अपना' मानते ही नहीं। वह तो तुम्हारी दृष्टि में राष्ट्र की सम्पत्ति हो जाता है।

तब उसकी सार-सँभाल का ध्यान रखना तुम्हारा नहीं, बल्कि राष्ट्र का फ़र्ज़ है; राष्ट्र-कर्मी का सारा योगक्षेम जनता के ज़िम्मे है। वही खिलाये, वही पिलाये, वही पहनाये, वही सारी आवश्यकताओं और अभावों का ख़याल रखे।

तुम्हारी विशेषताओं के कारण तुम सैकड़ों में दूर से ही पह-चान लिये जाते हो। तुम्हारी वेश-भूषा, तुम्हारे उठने-बैठने और बोलने का तरीक़ा इतना साफ़ और अलग होता है कि तुम कभी छिप नहीं सकते। और अपने आपको छिपाने की बुरी आदत तुम राष्ट्र-कर्मियों की होती भी नहीं।

प्राचीनों की तरह तुम कोलाहल से भागते या डरते नहीं। एकान्त शान्त वातावरण को तो तुम मृत्यु का लक्षण मानते हो, इसीलिए बड़े-बड़े जुलूसों और जलसों में तुम्हें उन्मादकारी आनन्द आता है।

सुनते हैं कि सुरा पर पहले भी प्रेम था—— और अच्छों-अच्छों का प्रेम था; सुरा और सुरों का तो जोड़ा ही था। पुराणों में अनेक प्रकार के मद्यों के नाम आते हैं। लेकिन तुम्हारे समुदाय ने जिस जीवन-सुरा का अतृप्त पान किया है उसका स्वाद उन प्राचीनों को नहीं मिला था। मानना पड़ेगा कि इस सुरा की बदौलत ही राष्ट्रों में इतना महान् जागरण और सामंजस्य आता है।

स्वभावतः ही तुम्हें उनपर रोषपूर्ण दया आती होगी, जो

तुम्हारी कोलाहलपूर्ण प्रवृत्तियों से अलग रहते हैं, और सामान्य ढंग से अपनी जीवन-यात्रा चलाते रहते हैं।

सामान्य ढर्रे पर जीवन की गाड़ी को चलानेवाले वे कैसे मनुष्य हैं, जो तुम्हारी तरह न तो राष्ट्र के लिए सोचते हैं, न कुछ करते हैं? तुम्हें सचमुच आश्चर्य होता होगा कि तुम्हारी तरह हज़ारों आदमी भाषण क्यों नहीं देते?—वे तो केवल बोलते हैं! कोई राष्ट्र-कर्म क्यों नहीं करते?—वे तो केवल काम करते हैं! तुम्हारी यह संगठित परेशानी देखकर तुम्हारे प्रति हमदर्दी होती है।

राष्ट्रकर्मी, तुम्हें अपना परेशान संप्रदाय अभी बहुत बढ़ाना होगा। तुम्हारी यह परेशानी तुम्हें बल दे।

: ९ :

आश्रमवासी से

पहले तुम्हारे 'आश्रम' शब्द की संकुचित, बल्कि भ्रामक व्याख्या की जाती थी। सुनते हैं, आश्रम तब उस स्थान को कहते थे, जहाँ कोई-न-कोई आध्यात्मिक साधना की जाती थी।

अच्छा हुआ कि तुमने इस संकुचित और भ्रामक व्याख्या को भी, बहुत-सी चीज़ों की तरह, व्यापक और निःसंशय बना दिया; अब तो बहुत करके उस स्थान को आश्रम कहते हैं, जो प्रायः राजनीतिक वातावरण से आच्छन्न रहता है, जहाँ अधिकतर ऐहिक विषयों पर ही विचार-विनिमय होता है, किंतु आध्यात्मिक महत्त्व को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

पहले के साधक घोर अरण्यों में आश्रम बनाते थे, और इसीलिए उन अरण्यवासियों के जीवन के अनुभव-संवाद आरण्यक, या 'शिष्टभाषा' में कहा जाये तो, जंगली संवाद कहे जाते हैं।

तुम्हें लगा कि इस भूल का संशोधन तो होना ही चाहिए, अतः तुमने अपने आश्रमों का निर्माण बड़े-बड़े नगरों के पार्श्व में जाकर किया, और स्वभावतः वहाँ नागरिक या शिष्ट शास्त्र की रचना की।

नामकरण तब एक अलग संस्कार तो था, पर नाम रखना उन्हें ठीक-ठीक मालूम नहीं था। आज की तरह तब आश्रमों के ऐसे सुन्दर नाम नहीं रखे जाते थे। कहाँ था तब कोई 'शांति-सदन', 'सत्य-आश्रम', 'सेवा-निवास', 'कर्म-कुटीर' या 'साधना-मंदिर'?

कणों और पीपलों को बीन-बीनकर खानेवाले दरिद्र कणाद और पिप्पलाद अपने आश्रमों के ऐसे सुन्दर नाम रख भी तो नहीं सकते थे।

साथ ही, इन मनोज्ञ नामों का तुमने अर्थ भी खूब व्यापक बना दिया है। तुम्हारे किसी साधना-मन्दिर में अर्थ-विस्तार-योजना पर विचार होता है, तो किसी शान्ति-सदन में चुनावों की चर्चा चलती है।

इसीलिए तो उन आरण्यकों के वाद-विवाद के विषय इन सरस चर्चाओं के आगे आज नीरस और निरर्थक प्रतीत होते हैं।

तब शायद लोक-सेवा भी इतने विस्तार से नहीं की जाती थी। सेवा-धर्म को 'योगिनामप्यगम्यः' कहकर, मालूम होता है, वे अरण्य-वासी तब उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। काठ और पत्थरों के संपर्क में रहने से उन्हें लोक-सेवा जैसी सुगम्य साधना भी अगम्य मालूम देती थी।

निवारण कर दिया; सेवा-धर्म तभी तो आज इतना सहज और सर्व-सुलभ हो गया है।

हाँ, कहाँ थे तब लोक-सेवा के इतने तमाम विशाल संघ, इतने ज़ोरदार संगठन? तुम सहज में हज़ारों सेवकों का निर्माण कर सकते हो। निर्धारित सेवा-पत्र पर दस्तख़त कर देनेमात्र से ही कोई भी आज लोक-सेवक बन सकता है।

अरण्यवासियों का हृदय इतना अधिक संकीर्ण था कि वे केवल अपनी ही शुद्धि और अपने ही उद्धार पर ज़ोर देते रहते थे; तहाँ, तुम उदार-हृदय आश्रमवासी राष्ट्र और विश्व की शुद्धि और उद्धार का विराट् आयोजन रच रहे हो। कारण, तुम्हारी दृष्टि में व्यापक क्षेत्र में किया गया प्रयास ही परम पुरुषार्थ है।

उन्होंने अदृष्ट आत्मा को पखारने, माँजने और संवारने में पुरुषार्थ माना था। तहाँ, तुमने उपेक्षित काया की सेवा-साधना में श्रेय माना है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' इस शास्त्र-वचन का ठीक-ठीक अर्थ समझने का प्रयत्न तुम आश्रमवासियों ने ही किया है।

उन आरण्यकों की तरह तुमने काया को व्यर्थ कसा या बाँधा नहीं, शरीर और स्वास्थ्य की तुमने हमेशा चिंता ही रखी। किंतु यह स्वास्थ्य भी कैसा अकृतज्ञ है कि कमबख्त सदा रूठा ही रहा। न इसने तुम्हारे शास्त्रीय प्रयोगों की कोई पर्वा की, न तुम्हारी सतत शरीर-सेवा का ही कुछ एहसान माना!

इस कृतघ्न आरोग्य की खातिर तुमने सैद्धान्तिक मतभेद रखते हुए भी, विभिन्न चिकित्साओं को अभेद-दृष्टि से ही देखा, पर ज्यों-ज्यों इसकी खुशामद की, त्यों-त्यों यह बिगड़ता ही गया।

तुम्हारी गोष्ठी का विवाद-विषय अक्सर खाद्य वस्तुओं के नये-नये प्रयोगों का रहता है—जैसे, दूध, दही और फलों के रस का शास्त्रीय विवेचन, मिर्च-मसाले का विकट बहिष्कार, कच्चे और उबले सागों का घातक अंतर, विटामिनों का विश्लेषण, इत्यादि, इत्यादि।

तुम्हारा अतिशय प्रिय विषय स्वास्थ्य-सुधार भी है—वैसा ही, जैसे धर्म-सुधार, समाज-सुधार, ग्राम-सुधार आदि। स्वास्थ्य तुम्हारा मकड़जाल के तारो पर चूँकि आधार रखता है, इसलिए उसकी साधना भी तुम सूक्ष्म विश्लेषणों और विश्लेषणों द्वारा किया करते हो।

तुम जब किसी ग्रामीण गृहस्थ के घर पर उसके सौभाग्य से पहुँच जाते हो, तो तुम्हारा सादा सात्त्विक भोजन जुटाना उस ग़रीब के लिए एक समस्या हो जाती है और यदि तुम्हारे जैसे दो-तीन प्रयोग-प्रेमी अतिथि कहीं पहुँच गये, तब तो उस बेचारे के आनन्द-उत्साह का कुछ पार ही नहीं!

और यह कैसी बात है कि जो बहुत-सी चीज़ें ग्रामीण गृहस्थों के घरों में रोज़-रोज़ होती रहती हैं, उनकी तरफ़ तो तुम्हारा ध्यान भी नहीं जाता, और उन्हीं चीज़ों के तुम अपने आश्रमों में कच्चे-पक्के प्रयोग करते हो, तो उनके समर्थन में तुम्हारे बड़े-बड़े दावे सामने आते हैं? किसी गृहस्थ के सामान्य घर को कोई आश्रम नहीं कहता, यह भी अद्भुत ही है!

कहते हैं कि परिग्रह से तुम तो बराबर पिंड छुड़ाना चाहते हो, पर तुम्हें वही कमबख्त नहीं छोड़ता। तुम्हारे इस प्रेमाकर्षण की फिर क्यों कोई टीका-टिप्पणी करे?

और जो स्वाभाविक है, उसकी टीका करने से कोई लाभ?

आश्रम के साथ परिग्रह का होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। और यह बात भी तो नहीं कि असंग्रह हमेशा ही अच्छा हो।

लोग अत्यधिक आशा आखिर आश्रमवासी से करते क्यों हैं? उनकी दृष्टि में क्या केवल कौपीन-कमंडलुधारी ही आश्रमवासी हो सकता है? तब, उनकी यह सरासर भूल है।

और यह भी हो सकता है कि तुम अपनी सहज उदारता के वश होकर परिग्रह को नहीं ठुकरा रहे हो।

यह अत्यधिक संतोष की बात है कि तुम लोक-निन्दा की कोई पर्वा नहीं करते; और यह कोई तुम्हारी असाधारण साधना नहीं है।

:१०:

प्रचारक से

जगत् आज तुम्हारा कृतज्ञ है। प्रचारक, तुम्हारी प्रेरक सेवाओं से भला कौन इन्कार कर सकता है? प्रत्येक प्रवृत्ति-क्षेत्र के तुम मानो गन्धवाही पवन हो।

प्रचार करते समय तुम कभी विचार के प्रकारों पर ध्यान नहीं देते। सुगन्ध और दुर्गन्ध में पवन कब अन्तर करता है? उसका काम तो गन्ध का मात्र वहन करना है।

तुम अपनी अद्भुत प्रचार-शक्ति से किसी भी विचार को इस तरह सर्वत्र फैला देते हो, जैसे सर्दियों में कभी-कभी समस्त वातावरण को कुहरा व्याप्त कर देता है—और खुद की अवसरवादिता से उस कुहरे को एक क्षण में तुम काट भी डालते हो।

सुनते हैं कि बहुत प्राचीन काल में प्रचार-शास्त्र शायद था ही नहीं। इसकी गरिमा या महिमा को किसी ऋषि या मुनि ने नहीं गाया।

वे कहते थे कि फूल अपनी गन्ध का कहाँ प्रचार करने जाता है! पर वे उपमा-प्रयोगी लोग इस मोटी बात को भूल जाते थे कि मनुष्य प्रकृति के सहारे रहनेवाला कोई फूल-पत्ती तो है नहीं, वह एक प्रयत्नशील सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

उस युग का जीवन-शोधक अक्सर मूक साधना के ज़रिये अपने मत को फैलाने का यत्न करता था। स्वभावतः किसी मूक निश्चल मनुष्य को देखकर लोगों को काफ़ी कुतूहल होता होगा और उसके विषय की आसपास कुछ चर्चा भी फैलती होगी।

अपनी बातों को फैलाने के उनके अड्डे और साधन भी अद्भुत होते थे—ऊबड़-खाबड़ स्थानों की खूब यात्राएँ होती थीं, नदियों के तटों या पहाड़ों पर अव्यवस्थित मेले लगते थे, और अजीब-अजीब उत्सव मनाये जाते थे।

कहते हैं कि भिक्षु लोगों ने दूर-दूर के देशों में भी जाकर धर्म को फैला दिया था। पर इसपर तुम शायद विश्वास नहीं करोगे। कारण कि, भिक्षुओं को न तो विविध भाषाओं का ज्ञान था, न अखबारों और ध्वनि-प्रसारक यन्त्रों के ही उनके पास कोई अचूक साधन थे। यह सच है कि उनकी अजीब वेश-भूषा देख-देखकर लोग उन्हें घेर ज़रूर लेते होंगे, और पर्याप्त ज्ञानोदय न होने के कारण उन अजनबियों की तरफ़ सम्भवतः कुछ खिंच भी जाते होंगे। ऐसा ही उनका धर्म-स्थापन होता होगा।

तुम्हें यह देखकर ज़रूर दुःख होता होगा कि उन अद्भुत साधनों के अवशेष परिवर्तित रूप में आज भी कुछ-कुछ बाक़ी रह गये हैं। निश्चय ही अभागे हैं वे असंस्कारी लोग, जो प्रचार-यन्त्र का श्रद्धापूर्वक न तो उपयोग करते और न उससे पूरा-पूरा नैतिक लाभ उठाते हैं।

प्रचार करने के लिए पुराने ज़माने में ऐसा था ही क्या ? न तब धर्मोत्तेजक चुनाव लड़े जाते थे, न शान्तिमूलक युद्ध पैदा किये जाते थे, और न इतने लम्बे-चौड़े लोक-सेवा के ही क्षेत्र थे। तहाँ आज तुम्हारे युग में सृजन और संहार की सैकड़ों संस्थाएँ हैं और योजनाएँ हैं।

तुम्हारे विराट् कन्धों पर बड़ी-बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं। तुम्हें आज सिद्ध करना है कि सेवा और रचना की प्रस्तावित योजनाएँ और प्रवृत्तियाँ धर्म-प्रेरित हैं, और धर्म का तत्त्व चुनावों और प्रतिस्पर्धामूलक आन्दोलनों की सफलता में बसता है।

तुम्हारी शोध ने तो एकदम युग पलट दिया है। 'किये जाओ' की जगह जबसे तुमने 'कहे जाओ' का महामन्त्र प्रतिष्ठित किया, लोक-प्रवृत्तियाँ तबसे आलोकित हो उठी हैं।

नये-नये जन-आन्दोलनों को जन्म देकर तुमने सिद्ध कर दिया है कि विज्ञापन-तत्त्व वैज्ञानिक हैं, और आचरणवाद अवैज्ञानिक।

तुम्हारी मान्यता है कि प्रचार-यन्त्र जितनी ज्यादा ताक़त का होगा, उससे उतने ही बड़े चमत्कारी परिणाम निकलेंगे। इस यन्त्र-विज्ञान से शुभ्र कपास देखते-देखते कोयला हो जाता है, और कोयला बन जाता है कपास।

शिवि और दधीचि अपना मांस और हड्डियाँ देकर भी, प्रचार का समर्थन न मिलने से, 'त्यागमूर्ति' न बन सके—जहाँ तुमने कइयों को अपनी वाणी और लेखनी के बल से वैसा बना दिया। और 'केसरी' तो कितने ही तुम्हारी बदौलत कानन छोड़-छोड़कर बस्तियोंमें आबसे हैं।

तुम्हारे हाथ में यों तो आज अनेक अस्त्र-शस्त्र हैं, पर सबसे ज़बर्दस्त अस्त्र तो अख़बार का है। इस ब्रह्मास्त्र से तुम अघटित को भी घटित कर सकते हो।

तुम्हारी आँखों से किसी घटना को जब दर्शक देखते हैं, तो उन्हें वह या तो बहुत बड़ी दिखाई देती है या बहुत छोटी। यथार्थता के तो तुम खंड-खंड कर देते हो।

बीड़ी हो या गीता, अपना अस्तित्त्व क़ायम रखने के लिए बाज़ार की शोभा बढ़ानेवाली हरेक चीज़ को तुम्हारा द्वार खट-खटाना पड़ता है।

तुमने साहित्य और संगीत में भी एक नया युग उपस्थित कर दिया है। जिन विषयों को कवि-कल्पना ने कभी छुआ भी नहीं था, उनपर भी तुमने ठोस कविताएँ रच डाली हैं। इसी तरह नये-नये रागों का भी तुमने आविष्कार या सृजन किया है।

जिस किसी चीज़ को तुम हाथ में लेते हो उसकी धूम मच जाती है। तुम चाहते हो कि उसकी चर्चा को अधिक-से-अधिक आँखें और अधिक-से-अधिक कान किसी-न-किसी तरह छू लें।

तुम मानते हो कि अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ 'अतिशयोक्ति' अलंकार है, जो हृदय की विशालता या उदारता को बड़े रसात्मक ढंग से प्रकट करता है।

तुम्हारे तर्क आकाश-मंडल और भूमिगर्भ तक पहुँचते हैं। प्राचीन-से-प्राचीन इतिहास और नवीन-से-नवीन विज्ञान को भी उसके पीछे-पीछे चलना पड़ता है।

प्रचारक; तुम न होते, तो लोहे और पत्थर-जैसे वज़नदार विषय काग़ज़ या रुई की तरह जन-आन्दोलनों के वातावरण में कैसे चढ़ या उड़ सकते थे ?

तब तुम्हारे प्रति जगत् क्यों न अपनी कृतज्ञता प्रकट करे ? तुम महान् हो, तुम धन्य हो !

: ११ :

शिक्षक से

शिक्षकवर, ज्ञान-विज्ञान का विकास जितना तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क में हुआ है, उतना शायद ही कहीं हुआ हो, किन्तु सद्-भाग्य से तुम्हारा ज्ञान उस ज्ञान की व्याख्या या सीमा में नहीं आता, जिसकी बड़ी-बड़ी डींगें दर्शन-सूत्रों और उपनिषदों ने हाँकी थीं।

वह प्राथमिक शोधों का, अतः अपूर्णता का युग था। तब के वे अपूर्ण शोधक यथार्थता का निरूपण करते हुए हिचकते थे, और अपना अज्ञान छिपाने के लिए उन्हें संशयास्पद बहुर्थी सूत्रों की शरण लेनी पड़ती थी।

कभी तो वे अपने धुँधले ज्ञान को अपनी अपरिपक्व बुद्धि से अनन्त कहने लगते थे और कभी असीम और अज्ञेय।

तहाँ, तुमने ज्ञान की आज ठीक-ठीक हदबंदी कर दी है। तुमने उसे कसकर बाँध लिया है। तुम्हारे ज्ञान-क्षेत्र में आज वह 'नेति' 'नेति' की अज्ञानसूचक रटन नहीं रही।

छात्र-जगत् को तुम कितना अधिक सिखाते हो, कितना अधिक ज्ञान प्रदान करते हो, अपनी इस अक्षय उदारता का शायद तुम्हें भी ठीक-ठीक पता न हो।

तुम अपने शिक्षण की किरणें सदा बिखरते ही रहते हो। उन ढेर-की-ढेर किरणों को विमूढ़ विद्यार्थियों से बटोरते भी नहीं बनता।

आरण्यक युग के अध्यापक तो कृपण होते थे। इतने मितव्ययी कि अपने यत्किंचित् ज्ञान को बहुत सँभाल-सँभालकर खर्च करते थे। उनके हर चीज़ के संयम का कदाचित् यही अर्थ रहा होगा।

शिक्षण-क्रिया में ज्ञान का क्षय प्रतिक्षण होता है, यह तो तुम मानते ही हो। यह अच्छा हुआ कि इस ज्ञान-यक्ष्मा का अचूक इलाज तुमने खोज निकाला। ज्ञान का जितना क्षय होता है, उतनी ही उसकी पूर्ति तुम भारी-भारी शुल्क और वेतन लेकर कर लेते हो।

शिक्षण और वेतन के श्रेष्ठ विनिमय का तब यह महान् अन्वेषण नहीं हुआ था। उन बुद्धू गुरुओं को तो हमेशा अपने 'कुल' चलाने की चिंता रहती थी। साथ ही, वे इसके भी इच्छुक रहते थे कि विद्यार्थी अपने कुलपति को श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखें।

विद्यार्थियों की सूखी श्रद्धा-भक्ति का तुम्हारे आगे कोई मूल्य नहीं। तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं कि तुम्हारे उन्मुक्त छात्र तुम्हें अपना वेतनभोगी नौकर समझते हैं।

शिक्षण-शालाओं में आज की तरह उस अँधेरे युग में गणित के 'त्रैराशिक' का उपयोग नहीं किया जाता था। तहाँ, आज का गणितज्ञ शिक्षक इस प्रश्न को तुरन्त हल कर लेता है कि 'उतने विद्या-दान का इतना शुल्क हुआ, तो इतने का कितना होगा?'

तुम्हारे ज्ञान-विकास का यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि तुम शिक्षण और शुल्क नापने का सही फीता हमेशा अपने पास रखते हो।

अर्थशास्त्र का तुमने गहरा अध्ययन किया है। तुमने अध्यापन-जैसे शुष्क दिमाग़ी व्यायाम को जो आज एक प्रतिष्ठित व्यवसाय का रूप दे दिया है, यह तुम्हारा कोई मामूली पुरुषार्थ नहीं है।

संभव है, प्राचीन काल में भी एक-दो गुरुओं में यथार्थ बुद्धि-विकास हुआ हो, और उन्होंने द्रव्य लेकर पठन-पाठन का सिल-सिला शुरू कर दिया हो। स्मृति में उल्लेख मिलता है कि 'भृतजीवी' अर्थात् वेतनभोगी शिक्षक श्राद्ध के काम में न लिया जाये।

ऐसा भयंकर दंड और यह कुनाम देकर उन सुधार-प्रेमी शिक्षा-शास्त्रियों की स्मृतिकार ने शुरू में ही जड़ काट दी।

तब का आचार्य दूसरों के लड़कों को अपने पुत्र समझने की वाहियात चिंता में व्यस्त रहता था। तुम्हारे-जैसे यथार्थवादी या 'अर्थवादी' ऐसे मूढ़तापूर्ण विचारों में नहीं पड़ा करते। तुम तो केवल अपने ही पुत्र को पुत्र मानते हो।

चरित्र के तुम पहरेदार तो हो नहीं, न उसके जीवन के नियंता हो। तुम्हारे लिए उसके विषय की इतनी ही जानकारी रखना काफ़ी है कि जो पाठ तुमने दिया है, उसे वह समूचा-का-समूचा निगल गया है या नहीं। उसे वह हज़म करता है या नहीं, अथवा आचरण में उसे कितना उतारता है, इन सब निरर्थक बातों से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं।

जैसे, तुम्हारा शिक्षण-ज्ञान इतना भर सिद्ध कर देगा कि तम्बाकू के सेवन से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, पर इस बात की देख-रेख रखना तुम्हारा काम नहीं कि तुम्हारे कितने विद्यार्थी बीड़ी-सिगरेट फूँकते हैं।

तुमने इस महान् तत्त्व को बुद्धिमत्तापूर्वक समझ लिया है कि शिक्षक का काम नियत नाप-तोल के अनुसार विद्यार्थी को सिर्फ़ शिक्षण देना है, इससे आगे और कुछ नहीं।

तुम समय-समय पर शिक्षा की नयी-नयी योजनाएँ भी गढ़ते रहते हो, और उनके सफल-असफल प्रयोग भी करते हो। पर तुम्हारे सारे प्रयोग दूसरों के बच्चों पर होते हैं, अपने लड़कों पर कभी नहीं। तो, तुम्हारी नयी शिक्षा-पद्धातियों पर तुम्हारे बच्चों का विश्वास नहीं, या खुद तुम्हारा विश्वास नहीं है? अद्भुत है तुम्हारी यह आकांक्षा कि जिस शिक्षा-योजना पर न तुम्हारा खुद का विश्वास है और न तुम्हारे बच्चों का, उसे तुम दूसरों के गले सफलतापूर्वक उतारना चाहते हो!

स्वाभाविक है कि तुम्हारे छात्र तुम्हारी वेश-भूषा की नक़ल श्रद्धा-भक्ति से करें। इस तरह सादगी का त्याग सिखाकर तुम सचमुच अपने छात्रों का—खासकर ग्रामीण छात्रों का—बड़ा उपकार कर रहे हो।

पुराने पाषाण-युग के निर्दय नीरस शिक्षक अपने छात्रों को आत्म-संस्कृति के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर ज़बरन् घसीट ले जाते थे; तहाँ, तुम उन्हें व्ययसाध्य खेल-कूदों और ललित कलाओं के नये-नये शास्त्रीय अर्थ समझाकर हँसते-खेलते मोहक मनोरंजक मार्ग पकड़ा देते हो।

शिक्षक, निश्चय ही तुम्हारा ज्ञान-दान अद्भुत है, अर्थपूर्ण है, अस्खलित है ।

: १२ :

शिक्षार्थी से

ईर्ष्या होती है तुम्हारा यह सुन्दर उन्मुक्त जीवन देख-देखकर। शिक्षा के सुनहरे स्वच्छन्द मार्ग पर तुम्हारा जीवन कैसी निश्चिन्त यात्रा कर रहा है !

शिक्षार्थी, तुम्हारा सारा ही वातावरण भव्य है। तुम्हारी शाला के ये आलीशान भवन, खेल-कूद के ये सुन्दर विशाल मैदान, तुम्हारी नख से शिखतक यह आकर्षक वेश-भूषा, तुम्हारी बड़ी-बड़ी क़ीमती किताबें और रंग-बिरंगी निर्झर-क़लमें देखकर तुम्हारे इस सुसंस्कृत जीवन पर कौन मोहित न हो जायेगा ?

पुरातन काल के शिक्षार्थियों की जब तुम्हारे साथ तुलना करते हैं, तो पता चलता है कि छात्र-संस्कृति का तबसे कितना अधिक विकास हुआ है।

घास-फूस की गन्दी झोंपड़ियों या वृक्षों के तले अंटसंट सूत्रों और कारिकाओं के रटनेवाले उन कौपीनधारी असभ्य शिक्षार्थियों का ज़रा ध्यान तो करो।

कानों का पर्दा फाड़नेवाले उच्चस्वर से हाथ नचाते हुए वे प्रातः ही पाठ घोखना शुरू कर देते थे; और छाल और ताड़पत्रों पर न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग लिपि में लिखते रहते थे।

दिनचर्या उन प्राचीनकालिक विद्यार्थियों की बड़ी विचित्र होती थी। कभी तो गुरुआनी की आज्ञा से लकड़ियाँ इकट्ठी करते, और कभी आस-पास से दुर्गन्धभरा गोवर बटोर लाते थे। पानी भरना, झाड़ू देना, सारा गृह लीपना और सवेरे-ही-सवेरे ठण्डे जल से नहा-धो लेना—यह था उनका नित्य का अभ्यासक्रम या नित्यक्रम!

दोनों, तीनों समय आचार्य की पाद-सेवा तो होती ही थी। गौओं की टहल भी करते थे, खेत गोड़ते थे, और ऊखल में धान भी कूटनी पड़ती थी। इनमें से एक भी चीज़ क्या उन्नत शिक्षा-क्रम के अन्तर्गत आती है?

द्वार-द्वार भिक्षा-पात्र लेकर वे रोज़ घूमते भी थे। और ऐसे भिक्षाखोर विद्यार्थी एक-एक विद्यापीठ में दस-दस हज़ार इकट्ठे हो जाते थे, तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

दिनचर्या तो बस, तुम्हारी गौरव-शालिनी है, खासकर उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले तुम सुसंस्कृत शिक्षार्थियों की।

तुम्हारा दैनिक कार्य-क्रम सारा ही शिक्षामय है। कारण, तुम 'केवल' शिक्षार्थी हो; उन प्राचीनकालिक छात्रों की तरह तुम असभ्य श्रमजीवी विद्यार्थी नहीं हो।

तुम्हारे कार्यक्रम में वैसा कोई झाड़ू-खुरपावाला शारीरिक श्रम नहीं है। तुम नहीं चाहते कि शरीर-श्रम का कोई फल हो, इसीलिए तुम शिक्षा की दृष्टि से खेल-कूदों के शुद्ध 'निष्फल' अनुत्पादक श्रम को ही पसन्द करते हो—और उस श्रम के चरणों पर तुम उलटे सैकड़ों रुपया चढ़ाते हो।

हाथ-पैर से तो तुम भी बराबर काम लेते हो; पर एक सुधरे हुए कलापूर्ण ढंग से। जैसे, पैर से तुम भारी-भारी गेंद उछालते हो; कूदते हो, नाचते हो; हाथ से दिन में दो-तीन बार बालों को झाड़ू और कंघी से कलापूर्वक सँवारते हो; जूतों पर पालिश करते हो; गले की धज्जी रोज़ परिश्रमपूर्वक बाँधते हो—और भी कितने ही श्रम-साध्य काम तुम शुद्ध शिक्षा की दृष्टि से सारे दिन करते रहते हो।

क्या तो शारीरिक और क्या बौद्धिक श्रम में तुम शिक्षार्थियों ने 'सार्थकता' को स्थान न देकर खालिस 'कला' को प्रतिष्ठित किया है।

तुम ऐसे अनेक ऊँचे-ऊँचे विषयों का अभ्यास करते हो, जिनका आगे चलकर तुच्छ उदर-पूर्ति से कुछ भी सम्बन्ध होने-वाला नहीं है।

उदर-पूर्ति जैसे व्यर्थ के चिन्तन में तुम कभी पड़ते ही नहीं। तुम्हारा एकमात्र ध्येय तो ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करना है, तुम्हारे सामने तो आज ऊँचे-ऊँचे आदर्श हैं, गंभीर विषयों का गूढ़ चिंतन है, अखबारी विश्व की बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। तेल, नोन और लकड़ी की चिन्ता में घुलना साहित्य और विज्ञान के विद्यार्थी का काम नहीं।

और भविष्य के बारे में तुम सोचो ही क्यों? यह सब तो निरक्षर किसान सोचे कि खेत में वह क्या बोयेगा; बुद्धिबल से वंचित मज़दूर सोचे कि हाथ-पैर को वह किस काम में लगायेगा।

तुम्हें न खेतिहर बनना है, न मजूर; न कुदाल चलाना है, न खुरपा; न कातना है, न बुनना। ये सब जंगली धन्धे तो निरक्षरों के हैं, तुम सभ्य साक्षरों के नहीं।

फिर ये सारे धन्धे श्रद्धा और शरीर-श्रम पर आधार रखते हैं। इनमें पड़ने की वेवकूफ़ी तुम भला क्यों करोगे?

श्रद्धा को तुम्हारा उपहास की दृष्टि से देखना स्वाभाविक है। प्रतिमास निश्चित फीस देकर शिक्षक को खरीद लेनेवाला बुद्धिवादी विद्यार्थी श्रद्धा को लेकर आख़िर करेगा क्या? दुनियाभर के ज्ञान-विज्ञान की बड़ी-बड़ी पोथियाँ तुम्हारी मेज पर पड़ी हैं और वेतनखोर अध्यापक तुम्हारा नौकर है। फिर तर्कवाद की तुम्हारे पास अखूट पूँजी है—तब श्रद्धा और जिज्ञासा तुम्हारे किस काम की?

इसी तरह श्रम का भी तुम्हारे सामने आज कोई खास मूल्य नहीं। तुम्हारी शिक्षा तो व्ययसाध्य है; श्रमसाध्य नहीं।

श्रमसाध्य शिक्षा पुराने युग के विद्यार्थी में कितने ही दोष पैदा कर देती थी—जैसे नम्रता, यथार्थता, तितिक्षा, श्रद्धा और आत्मशांति। तहाँ, व्ययसाध्य शिक्षा ऐसे दोषों से शिक्षार्थी को बिल्कुल मुक्त रखती है और यही उसकी खूबी है। तुम किसीका अंकुश नहीं मानते, यही तो तुम्हारे ज्ञान-संचय का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रवृत्ति को 'आन्दोलन' या 'हलचल' का नाम शायद तुम्हारी ही उद्धत शक्ति से मिला है। आज सभी तुम्हारी निरंकुशता से आतंकित रहते हैं।

मेरी हिमाकत

प्राचीन काल का शिक्षार्थी विद्या के साथ ज़बरन् विनय का सम्बन्ध जोड़ देता था, शिक्षा का गठबन्धन वह दीक्षा के साथ कर देता था। यही कारण है कि उसकी संस्कृति विकास नहीं कर सकी।

तुमने यह ठीक किया जो उसके साथ अविनय का सम्बन्ध जोड़ दिया, भले तुम्हारी विद्या को अविद्या का नाम दे दिया जाये। फिर यह तो अन्य बहुत-सी चीज़ों की तरह एक शोध का विषय है कि जीवन-निर्माण विनय-युक्त विद्या से होगा या अविनय-युक्त अविद्या से।

लेकिन विद्या का कब निरंकुशता से वैर है? विद्या तो 'विमुक्ति' के लिए है न? और तुमने 'निरंकुशता' को 'विमुक्ति' का पर्याय मान लिया, तो इसमें किसीको क्यों आपत्ति हो?

तुम्हारे ऊपर व्यर्थ यह आरोप किया जाता है कि पढ़ते-पढ़ते तुमने अपना स्वास्थ्य चौपट कर लिया।

पूछो तो, उन आरोपियों की आखिर स्वास्थ्य की व्याख्या क्या है। क्या ऐनक देखकर ही वे तुम्हारी आँख को कमज़ोर बताते हैं? तुम्हारा पीला चेहरा और पिचके गाल देखकर क्या वे इतना भी नहीं समझते कि यह तो तुम्हारी तपश्चर्या और शिक्षा-साधना का सुपरिणाम है?

फिर तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ेगा क्यों? तुम्हारा जीवन कुछ असंयमी तो है नहीं। उत्तेजक पदार्थों का रक्तवर्धक सेवन, चित्रपट-घरों में रात का जागरण, रसात्मक साहित्य का स्वाध्याय, शरीर-श्रम से सहज वैर, इन सबकी क्या असंयम में गणना होगी?

शिक्षार्थी, तुमने क्या नहीं साधा? शरीर-श्रम की अवज्ञा से

आरोग्य और प्रामाणिक आजीविका को साधा; अश्रद्धा और अविनय से चारित्र्य को बनाया; और अध्ययन को आचरण से दूर रखकर मनुष्यत्व को विकसित किया।

तुम्हारा यह उन्मुक्त जीवन वस्तुतः सफल है।

: १३ :

वैज्ञानिक से

ज्ञान ने तुमसे एक नया प्रकाश लिया है, एक विशेष अर्थ पाया है। तुम्हारी ही बदौलत वह ज्ञान से आज 'विज्ञान' बना है।

विज्ञानवेत्ता, तुम ज्ञान की किरणों से नहीं, बल्कि ज्ञान का सूर्य तुमसे प्रकाश पा रहा है।

प्राचीन काल के ज्ञान-शोधकों ने संशयास्पद आत्मा के अधकच्चे ज्ञान को विज्ञान कहा था। उनके उस विशिष्ट ज्ञान की दौड़ बस आत्मा, या बहुत हुआ तो परमात्मा तक ही थी।

आगे चलकर तो उन्हें खुद अपने स्थापित विज्ञान में भी शंका पैदा हो गयी, और दिङ्मूढ़ होकर वे विचित्र विज्ञानी ज़ोर-ज़ोर से 'नेति, नेति' चिल्लाने लगे।

जिस भौतिक ज्ञान के प्रति उन पुराने सत्य-शोधकों ने

आलस्य और उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया था, तुमने उसीको बुद्धिपूर्वक 'विज्ञान' की संज्ञा दी, और उसी क्षण विज्ञान के रूढ़ अर्थ का अंत हो गया।

तुम्हारे नये-नये प्रयोगों और आविष्कारों से भौतिक जगत् में एक तहलका-सा मच गया। तुमने अपने तेज़ नखों से पृथिवी का पेट चीर डाला; आकाश को विक्षुब्ध कर दिया; सागर तुम्हारे आतंक से खलभला उठा; वायु का श्वास अवरुद्ध हो गया।

पृथिवी, वायु, जल, अग्नि या विद्युत् किसी भी तत्त्व को तुम्हारी अवज्ञा करने का साहस नहीं हुआ। तुम्हारे सामने सारी भौतिक शक्तियाँ हाथ बाँधकर खड़ी हो गयीं। तुम्हारी विज्ञान-माया ने मानव को 'अतिमानव' या 'विमानव' बना दिया।

तुमने प्रकाश का, उष्णता का, ध्वनि का, वायु का जिस प्रकार परीक्षण और पृथक्करण किया है उसे देखकर उँगली दाँतों तले से निकलती ही नहीं। साकार और निराकार का भी तुमने एक-एक पुर्ज़ा खोल डाला। तुम्हारे पुरुषार्थ की जितनी भी स्तुति की जाये, उतनी थोड़ी है।

तुम सारे विश्वब्रह्माण्ड की बात घर-बैठे सुन लेते और सुना देते हो। आत्मदर्शन का दावा करनेवालों की तरह अपने अन्दर की आवाज़ सुनने का तुम हास्यास्पद प्रयास नहीं करते।

मगर इन महान् आविष्कारों के आने से पहले ही अध्यात्म-वादियों ने अपनी निर्बल कल्पना के सहारे इनका मज़ाक उड़ाना शुरू कर दिया था। इतनी ऊँची भौतिक सिद्धियों को, यदि वे आज होते तो, अविद्या या माया का खेल बतलाकर इन्हें योंही हँसी में उड़ा देते। उस प्रकार के अनिर्वचनीय विचार रखनेवाले

बचे-खुचे चंद आत्मशोधक तो आज भी तुम्हारे आविष्कारों की अवगणना करते रहते हैं।

अच्छा है कि तुम उनके हँसने पर ध्यान नहीं देते। मानने दो उन्हें अन्तरात्मा को ही सारी सिद्धियों का आदिस्रोत! उनके विचित्र अनुमानों पर प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक कभी ध्यान नहीं देगा। इनके अध्यात्मयोग के चक्कर में अब बुद्धिशाली दुनिया फँसने की नहीं।

भौतिक आविष्कारों के प्रत्यक्ष आनन्द-लाभ के आगे आत्मा के कल्पित आनन्द को तरजीह देना बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो क्या है?

तुम्हारा उन्होंने मज़ाक उड़ाया, जिसका तुमने उनसे बदला भी तो पूरा-पूरा ले लिया। तुम्हारा पदार्थ-विज्ञान उनके पुराने-धुराने अध्यात्म की आज पग-पग पर खिल्ली उड़ा रहा है। रसायन-शास्त्र का विद्यार्थी उनके 'ब्रह्मरस' का उतना भी मूल्य नहीं आँकता, जितना कि अपनी प्रयोगशाला की रासायनिक बोतल का।

सत्य का मूल्य तुमने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा निश्चित किया है। अतः अब आचरण द्वारा सत्य की शोध करने की आवश्यकता नहीं रही।

तुम्हारे उत्पादक मस्तिष्क ने एक-से-एक आश्चर्यकारक यन्त्रों का आविष्कार कर जड़ को चेतन के सिर पर आरूढ़ करा दिया है। पुरातन युग के विज्ञानी जहाँ तृष्णा और परिग्रह को क्षय करने की सलाह देते थे, तहाँ तुम्हारे यन्त्र-युग में तृष्णा और उत्पादन-वृद्धि को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिला है। ज्ञान के चरम विकास का यही तो सबसे बड़ा प्रमाण है।

तुम्हारी चमत्कारी कलों ने उपनिषदों के 'निर्वाण-पद' को कितना सुलभ कर दिया है, इसकी कल्पना शायद तुम्हें भी न हो। 'बेकार' होकर अर्थात् कर्म के कुचक्र से छुटकारा पाकर 'कलयुग' में तुम्हारे आविष्कारों ने निर्वाण ही नहीं, महानिर्वाण तक करोड़ों मनुष्यों को प्राप्त करा दिया है।

श्रम करते-करते सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य की कमर जैसे टूटी जा रही थी। हाथ-पैर तो उसके कभी के घिस-घिसा गये थे। तुमने उसे हाथ-पैर हिलाने-डुलाने से छुट्टी देकर विश्रान्ति दी।

शारीरिक श्रम का दबाव न पड़ने से मनुष्य के दिमाग़ को भी काफ़ी फ़ुरसत मिली। वह खुल गया। उत्पादन बढ़ाने और शोषण करने की नयी-नयी योजनाएँ अब उसने सोचीं। प्रतिस्पर्धा को तुम्हारे आविष्कारों से बेहद प्रोत्साहन मिला। तुम्हारे मस्तिष्क में उत्सव की लहर दौड़ गयी। इस महोत्सव में प्रतिस्पर्धा ने स्वभावतः विनाश को भी शरीक कर लिया।

विज्ञान ने तुम्हें परीक्षणों के सिलसिले में सत्य की भी झलक दिखा दी, पर उसका जीवन के साथ मेल बिठाना तुम्हें रुचिकर नहीं लगा।

तुमने एक दूसरा ही मार्ग चुना। विज्ञान के सहारे सत् से तुम असत् की ओर गये; प्रकाश से तमस् की ओर चले; अमृत से मृत्यु की ओर बढ़े। तुम्हारी यह क्रान्ति-यात्रा कोई मामूली साहस की नहीं थी।

वैज्ञानिक रीति से जीने के लिए तुमने विलास और विनाश को स्वभावतः एकसाथ निमन्त्रण दिया। तुमने सिद्ध कर दिया कि जीवन तो संघर्ष और संहार में है। तुम मृत्यु से डरे नहीं।

मेरी हिमाक़त

मृत्यु से सदा भयभीत रहनेवाले सुरों और असुरों ने 'अमृत' निकालने के लिए सागर का मन्थन किया था। विष तो वह अनायास ही उनके हाथ लग गया था, जिसे उन्होंने अपने पास रखा नहीं।

तुमने उससे बिल्कुल उलटा किया। मस्तिष्क के महासागर को विज्ञान की मथानी से मथकर तुमने प्रयासपूर्वक हलाहल निकाला। इस महाप्रयत्न में शायद थोड़ा-सा अमृत भी हाथ लग गया, पर उसे तुमने निकम्मी चीज़ समझकर फेंक दिया, जैसे देवों और दैत्यों ने विष को फेंक दिया था।

विष-प्रयोग की तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा में नीति कुछ बाधा डाल रही थी—उसे अर्थवाद के नीचे तुमने कौशलपूर्वक दबोच दिया। तुम्हें स्पष्ट हो गया कि नीतिशून्य जीवन जीना ही सुसंस्कृत और विज्ञान-संगत है।

विश्व की रक्षा और व्यवस्था की खातिर, पवित्र उद्देशों से प्रेरित होकर, तुमने विश्व-संहार की नयी-नयी योजनाएँ बनायीं। जीने की खातिर मृत्यु को तुमने सप्रेम निमंत्रण दिया।

इस उद्देश-सिद्धि के लिए तुमने प्रलय की आग उगलनेवाले वायुयानों का निर्माण किया; ज़हरीली गैसों के कोष तैयार किये; समुद्र के गर्भ में मृत्यु का भयानक जाल बिछा दिया।

मालूम नहीं, तुम्हारे प्रयोग और आविष्कार विकसित होते-होते अभी और कहाँतक पहुँचें। भविष्य में तुम्हारे वैज्ञानिक मानव की कैसी क्या शक्ल होगी, इसका तो तुम्हें भी शायद ...ता न हो।

...। कल्पना को खींच-खींचकर बढ़ाया-फैलाया जाये, तो शायद

वह विज्ञान-मानव वहाँतक पहुँच जाये, जहाँ तुम्हारा विज्ञान उसे एक 'अनावश्यक' प्राणी घोषित करदे, और वह अनावश्यक प्राणी दुनिया में अवकाश प्राप्त करते-करते अपने मुक्तिदाता विज्ञान को सदा के लिए दफ़ना दे, और इस तरह दोनों की दोनों में परिसमाप्ति हो जाये।

वैज्ञानिक, तो क्या तुम उसी शुभ दिन की प्रतीक्षा में हो?

: १४ :

परीक्षक से

लोग पूछते हैं, कि तुम सारी ही परीक्षाएँ पार कर चुके होगे, नहीं तो दूसरों के परीक्षक तुम कैसे बन पाते ? यह भी भला कोई प्रश्न है ?

साफ़ ही यह उनका भ्रम है। परीक्षा लेने का परीक्षा देने से कोई संबन्ध नहीं। यह तो बिल्कुल बेतुकी बात है। परीक्षा तो चाहे जो चाहे जिसकी ले सकता है।

दूसरों को सज़ा देनेवाले न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक थोड़ा ही है कि वह खुद सारी सज़ाएँ काट चुका हो। यह मोती निकालने-वालों का धंधा तो है नहीं कि बिना खुद गोता लगाये मोती हाथ ही न आ सकें। किसीका फैसला करते या परीक्षा लेते समय खुद बहुत गहरे जाने की ज़रूरत नहीं होती।

परीक्षक, तुम्हारा काम तो दूसरे के अज्ञान को टटोलना है। तुम तो केवल इतना देखना चाहते हो कि उसके अन्दर अज्ञान कहाँ-कहाँ छिपा पड़ा है।

तम्हें यह नहीं देखना कि उसमें ज्ञान का अंश कितना है। यह काम तो खुद परीक्षार्थी का है।

परीक्षा यों कोई नयी शोध नहीं है। परीक्षा पहले भी होती थी, पर तब इसका इतना विकास नहीं हुआ था। तब की परीक्षाएँ बर्बर युग की याद दिलाती हैं। परीक्षकों की निष्ठुरता सामने आती है, तो हृदय एक बार काँप उठता है।

विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की परीक्षा ली थी; राम ने सीता की; कृष्ण और अर्जुन ने मोरध्वज की; और इन्द्र ने शिवि की। सब-के-सब वे कैसे निर्दय परीक्षक थे!

वे जीवन की परीक्षा लेते थे, जब कि तुम मनुष्य की बौद्धिक योग्यता को परखते हो, और वह भी एक अच्छे वैज्ञानिक ढंग से।

उन पुराने परीक्षकों के पास परीक्षा का कोई पैमाना नहीं था। ज्ञान को नापने का तुम्हारे पास, जबकि, एक अद्भुत फीता है, जिससे तुम परीक्षार्थी के मस्तिष्क को निश्चित अङ्कों से नाप लेते हो।

तुम्हारी निर्णय-बुद्धि की ओर कोई उँगली नहीं उठा सकता। तुम हज़ारों परीक्षार्थियों की योग्यता को खूब बारीकी से नाप लेते हो। तुम्हारे चेहरे पर की भाव-रेखाएँ बतला देती हैं कि किस परीक्षार्थी ने तुम्हारे प्रश्न को किस तरह हल किया है।

तुम्हें आश्चर्य होता है कि प्रश्नों का तुम खुद जैसा उत्तर लिखते वैसा परीक्षार्थी ने क्यों नहीं लिखा, तुम्हारी जैसी योग्यता उसकी क्यों नहीं है!

संयोग से किसी प्रश्न का उत्तर देखने से छूट जाये, या अङ्कों का जोड़ ग़लत लग जाये या उत्तर-पुस्तक जाँचते समय ध्यान

तुम्हारा कहीं इधर-उधर चला जाये, तो उसके लिए तुम थोड़े ही दोषी ठहराये जा सकते हो ?

और वह कमबख्त असफल विद्यार्थी रेल की पटरी पर लेटकर जान देदे,तो उसकी मृत्यु के जवाबदेह तुम थोड़े ही हो सकते हो ?

तुमने तो अनासक्त भाव से अपने हाथ में योग्यता-अयोग्यता नापने का फीता पकड़ रखा है—नाप लेते समय सूत दो सूत वह इधर-का-उधर हट जाये और उससे कोई परीक्षार्थी आत्मघात कर बैठे, तो उसे 'संयोग' ही कहा जायेगा; परीक्षा की वैज्ञानिकता इससे सदोष नहीं कही जा सकती।

और तुम्हारा वह 'संयोग' हमेशा ही घातक नहीं होता, किसी-किसीके हक़ में तो वह श्रेयस्कर सिद्ध होता है। तुम्हारी अङ्कों की आकस्मिकता से निपट अयोग्य भी कभी-कभी योग्य बन जाता है।

कभी-कभी तुम उदारता की लहर में आकर कृपाङ्क-दान से भी काम लेते हो। आशय यह कि पुराने बर्बर परीक्षकों से तुम बहुत आगे निकल गये हो।

परीक्षा लेने की तुम्हारी पद्धति को इधर कुछ आलोचकों ने अप्राकृतिक और ग़लत साबित किया है। पर तुम उनकी आलोचना से कभी विचलित नहीं हुए और न कोई कारगर परीक्षा-पद्धति ही वे अबतक निकाल पाये हैं। और उनकी आलोचनाओं पर तुमने कभी ग़ौर से विचार भी नहीं किया। परीक्षा तुम्हें खुद तो देनी नहीं, इसलिए परीक्षा-पद्धति पर विचार करने की ज़रूरत भी नहीं।

परीक्षक, तुम्हारे श्रम को अबतक तो सफलता ही मिली है; साथ ही, विवेक और न्याय को उत्तेजना भी। और स्वयं आलोचक भी तुम्हारे हाथ से प्रमाण-पत्र पाने की अभिलाषा रखते हैं!

: १५ :

तर्कवादी से

मानव-धर्म की धार पहले बहुत ही कुंठित थी। ज़हन एक-दम कुन्द था। मामूली-से-मामूली चीज़ को भी तब का मंदबुद्धि मानव अतर्क्य और अचित्य कह दिया करता था।

उस कुंठित युग में कहा जाता था कि जो वस्तु अतर्क्य हो, उसमें तर्क को मत भिड़ाओ। तर्कबुद्धि का प्रयोग करने से पहले ही वे उसकी असमर्थता या अगम्यता स्वीकार कर लेते थे।

तुमने वह दयनीय स्थिति आज बदल दी। तर्क की सिली पर घिस-घिसकर उसकी मोथरी धार को तुमने आज इतना तेज़ कर दिया है कि वह चाहे जिस चीज़ को काट सकती है। इसलिए आज न कुछ अकाट्य है, न अतर्क्य है, न अचिन्त्य है।

तुम्हारे युक्तिवाद के अस्त्र में दोनों ही ओर तेज़ धार है। अतः एकसाथ ही दो-दो, तीन-तीन पक्षों को काटने की उसमें क्षमता है।

दुर्बल बुद्धि के कारण सत्य और असत्य के बीच व्यर्थ ही उन लोगों ने एक ऊँची दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर रखी थी। और स्याह और सफ़ेद को एक दूसरे के विरुद्ध क़रार दे दिया गया था।

तुमने अब उस भ्रम को अपने तर्कबल से दूर कर दिया है। सत्य और असत्य में—तत्त्वत: चाहे जो हो—व्यवहारत: तुम कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं करते। और स्याह और सफ़ेद को भी तुम वैसा परस्पर-विरोधी नहीं मानते। जगत् का इस प्रकार तुमने एक बहुत बड़ा उपकार किया है।

तुम चाहे जिस पक्ष को अपनी विलक्षण युक्तियों से सतेज कर देते हो। मानव-बुद्धि को तर्कवाद का शुद्ध आधार देकर तुमने अच्युत बना दिया है।

तुम्हारी यह शोध भी अभिनंदनीय है कि बुद्धितत्त्वको आचरण-धर्म न मानकर तुमने केवल शास्त्रीयवाद का वाहन माना है। तुम्हारा विकास इसीलिए पूर्णतातक पहुँच गया है, कि तुम खालिस बुद्धिवादी हो।

दलील को तुमने विचार-विनिमय में इतना ऊँचा स्थान दे डाला है कि चिंतन, अनुशीलन, अनुभव और आचरण की आज वैसी क़ीमत नहीं रही।

तर्क की बेलिहाज़ कसौटी पर कसे जाने के भय से अन्दरूनी आवाज़ या आकाशवाणी सुनने या ईश्वर का आदेश पाने के अब वैसे हवाई दावे नहीं किये जा सकते।

तुम्हारे युक्तिवाद ने सबसे बड़ा काम तो यह किया है कि किसी भी सिद्धान्त को बिना अपवाद के नहीं रहने दिया। तुमने

अपवाद के भी अपवाद खोज निकाले हैं और सिद्धान्त को अपवादों से इतना अधिक लाद दिया है कि उसका शरीरतक ढँक गया है।

युक्तिमान्य अपवादों ने सिद्धान्त और नियम को इतना ज्यादा लचीला बना दिया है कि कोई भी सैद्धान्तिक व्रत बिना किसी हिचकिचाहट के लिया जा सकता है, और वैसे ही तोड़ा भी जा सकता है।

'करूँगा' के पहले एक 'प्रयत्न' शब्द जोड़ देने से प्रतिज्ञा की किश्ती का चलाना एकदम आसान हो जाता है।

नये-नये अर्थों की गुंजाइश हर जगह रखने में तुमने सचमुच बड़ी उदारता और दूरदर्शिता से काम लिया है।

और यही कारण है कि तुम्हारी अनेकमुखी भाषा में 'परन्तु' 'यद्यपि' 'संभवत:' 'शायद' 'लगभग' आदि शब्दों की भरमार रहती है। ऐसे ही, तुम्हारी 'हाँ' और 'ना' का भी अर्थ साधारण अर्थ से कुछ भिन्न-सा होता है।

बौद्धिक विकास की तेज़ रोशनी में आज चाहे जैसी असंगतियों को संगत सिद्ध किया जा सकता है, और तुमने ऐसा कर दिखाया है।

तुमने अपने युक्तिबल से जगत् में असम्भव या अशक्य कुछ भी नहीं रहने दिया। युक्तिबल से तुमने निराकार वस्तुओं का भी संगठन कर दिखाया; शून्य का भी बटोर-बटोरकर ढेर लगा दिया।

शायद ही कोई ऐसा सिद्धान्त, ऐसा नियम नज़र आता है, जिसके अनेक अर्थ न किये गये हों। दलीलों के डर से अर्थ हमेशा काँपता ही रहता है, कभी स्थिरता को नहीं पहुँचता।

पहले के तर्कशून्य कवि ने शरीर-सेवा को अविवेकी मनुष्य

का काम बताया था। आज वह पुरानी विचार-धारा उलट गयी है। तब शायद सुन्दर को सत्य तथा शिव के धुँधले दर्पण में देखने का दार्शनिक प्रयास किया जाता होगा।

यहाँ, तुम शरीर-सेवा को या सुन्दर वेशभूषा को विवेकशील मनुष्य का 'धर्म' मानते हो। तुम्हारी दलील है कि आत्म-देवता तो स्वच्छ और आकर्षक है ही; स्वच्छ और परिष्कृत रखकर सजावट तो देह-मंदिर की करनी है।

तुम तर्कवादियों ने मंदिर को बेहद महत्त्व दे डाला है। इस न्याय से तो तर्कयुग की संस्कृति को 'मन्दिरी संस्कृति' कहना ही युक्तिसंगत होगा।

शृंगार को तब शृंगार ही कहते थे। विकास के अभाव में यथार्थ देखने की ही तब परिपाटी थी—और ही कुछ सिद्ध करने के पक्ष में तब कोई ज़ोरदार दलील नहीं आयी थी। तुमने शृंगार को 'संस्कार' का सुन्दर नाम दे दिया है, और इस नये नामकरण ने मूर्ख आरोपियों के आगे तुम्हें निर्भीक बना दिया है। शरीरोपासना के प्रति उपेक्षा का तुच्छ भाव रखनेवालों को तुम्हारे समाज में शायद इसीलिए आज असंस्कारी कहा जाता है।

इसी तरह, जिसे कोई-कोई भूल से 'सजावट' के हल्के नाम से पुकारते हैं, उसे तुमने देह के 'सहज धर्म' का तात्त्विक नाम दे दिया है। तुम्हारे सहज धर्म को लोग शृंगार और सजावट क्यों कहते हैं, इसपर तुम्हें आश्चर्य होता है।

अस्पृश्यता पर धर्म की छाप लगाकर जैसे उसे शास्त्रीय प्रतिष्ठा देदी गयी थी, वैसे ही तुमने बाहरी वेशभूषा को संस्कृति का वाहन बनाकर सामाजिक प्रतिष्ठा के आसन पर बिठा दिया है।

मनोविकारों की व्याख्याएँ भी तुम्हारी अलग हैं। जैसे, सामान्य लोग जिसे अनबन कहते हैं उसके लिए तुम्हारा तर्कशुद्ध शब्द 'मतभेद' है, हालाँकि जो विकसित होते-होते अनबन के भी आगे संघर्षतक पहुँच जाता है।

एक कठिनाई है। वह यह कि तुम्हारे कई रूप हैं और कई हैसियतें हैं। दृष्टिकोण भी तुम्हारे अनेक हैं, यद्यपि आँख के यों दो ही कोण होते हैं। कमसमझ लोगों को अक्सर समझने या मतलब निकालने में भ्रम हो जाता है कि तुम्हारा रूप असल में क्या है, किस हैसियत से तुम क्या मानते हो, किस समय किस दृष्टिकोण से देखते हो?

यद्यपि श्रद्धा या निष्ठा के लिए तुम्हारे तर्कक्षेत्र में कोई प्रतिष्ठा का स्थान नहीं है, तो भी जहाँतक तर्क की स्वतंत्र सत्ता में श्रद्धा कोई वाधा नहीं पहुँचाती, वहाँतक उससे फ़ायदा उठाने में तुम कोई हर्ज़ नहीं समझते।

श्रद्धा के फेर में पड़कर लोग जहाँ अतर्क्य वस्तुओं के बहाव में वहे जा रहे थे, तहाँ तुमने उन्हें वस्तु-दर्शन की विविध दृष्टियाँ देकर स्वस्थ, शान्त या जड़ वन जाने से वचा लिया है। इसके लिए जगत् तुम्हारा सदा कृतज्ञ रहेगा।

: १६ :

युवक से

जैसे कवि है, कलाकार है, सैनिक है, नेता है, वैसे ही तुम्हारा भी एक व्यवस्थित स्थान है। तरुण, तुम्हारा अपना एक संप्रदाय है, अपना एक विज्ञापन है।

वैसे यौवन कोई नयी चीज़ नहीं; वह सनातन से है। प शायद उसका कोई संप्रदाय पहले नहीं था; विज्ञापन उसक दुनिया के सामने नहीं आया था।

बूढ़ों ने सदा तुम्हारी अप्रिय टीका की, पर तुम्हारे पूर्वकालिक युवक उनकी टीका से रुष्ट नहीं हुए। शायद उनके संक्रामक असर से वह अकालवृद्ध हो जाते थे। आत्मदुर्बलता-सूचक शील उनके तारुण्य को अन्दर-ही-अन्दर खोखला करता चला जा रहा था, और उन्हें उस महान् क्षय का पता भी नहीं चलता था।

बाद को तुम्हें अपने पूर्व के युवकों की यह कमज़ोरी नज़र

आयी, और यौवन-पुष्प को पूर्ण विकसित कर देनेवाली अविनय-उषा को तुमने भरसक उत्तेजन दिया।

तुम्हें यह सत्य स्पष्ट हो गया कि शील या विनय के रहते, जो निश्चय ही बुढ़ापे के सहचर हैं, यौवन का मादक फूल कभी खिल नहीं सकता।

विनय की रस्सी से जीर्ण-शीर्ण शरीर ही आबद्ध रह सकता है। युवक-शक्ति के ज़ोरदार झटके को दुर्बल विनय कहीं बर्दाश्त कर सकती है?

तरुणाई तो वह प्रबल बाढ़ है, जो शील और विनय-जैसे जीर्ण ठूँठों को सहज ही बहा ले जाती है।

विनय के ज़ोर से कोई गलितयौवन ही झुकते हैं। शक्तिधर तारुण्य को झुकाने की उसमें ताक़त नहीं। उद्दण्डता उसका भूषण है; और नम्रता दूषण।

जिसकी आँखों पर आवरण न चढ़ा हो, वह युवक ही कैसा? तुम्हारी उत्तान आँखों में खुमारी का होना स्वाभाविक है। इसी-लिए सीधा पैर रखना तुम्हारे शास्त्र में अधर्म है।

जिनका यौवन गलित हो चुका है, वही नाप-नापकर या फूँक-फूँककर पैर रखते हैं। कूद-फाँद करनेवाले अल्हड़ युवक ज़मीन की तरफ़ देख-देखकर नहीं चला करते।

गंभीर विचार और उच्च चिंतन तुम्हारे सामने आने की भी हिम्मत नहीं करते। तुम इन दोषों से सदा सावधान रहते हो। तुम मानते हो कि विचार या चिंतन से यौवन में शिथिलता पैदा होती है, उसकी सहज तेजस्विता मारी जाती है।

सर्वत्र तुम खूब खुलकर खेलना चाहते हो। न किसीको

बाँधना चाहते हो, न खुद बँधना चाहते हो। यौवन के अमर्याद राज्य में तुम्हारा मन एकदम मुक्त विचरता है। नियंत्रण का पाप तुम सहन नहीं कर सकते।

तरुण शक्तियों को तुम अत्यन्त उदारता से खर्च करते हो। संयमशीलता, तुम्हारी दृष्टि में, एक प्रकार की कृपणता है।

तरुण कभी कृपण नहीं होता। और जो हृदय का उदार है, उसका विचार या चिंतन से क्या सरोकार? सोचते-विचारते तो बूढ़े कृपण हैं, जिन्हें सदा शक्ति-संचय का ही लोभ बना रहता है।

बाढ़ ठहरना नहीं जानती। उसमें तो वेग-ही-वेग होता है। ठहरना और सड़ना तो तालाब के जीर्ण जल का काम है।

तुम्हारे विपक्ष में भी काफ़ी कहा जाता है। लेकिन आलोचना के आघातों से जगत् में बचा ही कौन है?

एक भारी आरोप तो तुम्हारे ऊपर यह किया जाता है कि तुमसे विषय-विकारों को उत्तेजन मिलता है। ठीक है, पर विकारों को निंदित क्यों माना जाये?

विकारों को तुम बलपूर्वक रोकना या निर्दयता से बाँधना नहीं चाहते—तो क्या यह कोई गुनाह है? स्वाभाविक है कि युवक का सरस हृदय किसी विकार पर अंकुश नहीं रखना चाहता। यौवन का तकाज़ा है कि तुम स्वच्छन्द विचरो, और तुम्हारे मनोविकार भी सर्वथा स्वच्छन्द विचरें।

फिर तुम सभी मनोविकारों को एकसमान उत्तेजन देते हो। कभी काम को हृदय से चिपटा लेते हो, कभी क्रोध को; इसी तरह कभी विराग को और कभी अनुराग को। तुम अहंकार और द्वेष से भी घृणा नहीं करते। मोह को भी तुम प्यार करते हो, और

मात्सर्य को भी। मनोविकारों के प्रति तुम्हारे निष्पक्ष प्रेम की कोई क्यों टीका करे? तुम्हें तो सभी विकारों में एक-सा आनन्द आता है।

विचार तो ठंडे मट्ठे के जैसा है, उसे तुम क्यों ग्रहण करोगे? तुम तो स्वभावत: गरम चाय के जैसा उत्तेजक विकार ही पसन्द करोगे।

तुम मानते हो कि यौवन की सुखद यात्रा में किसी-न-किसी 'रोमांस' का होना आवश्यक है। रोमांसहीन यौवन तुम्हारी दृष्टि में बिना गंध का फूल है।

चढ़ती हुई जवानी में उस प्रेम का होना ज़रूरी है, जिसे बूढ़े टीकाकार मोह और पाप कहते हैं; उस जोश का होना उसमें अनिवार्य है, जिसे वे ईर्ष्यालु आलोचक अविचार और दुस्साहस समझते हैं; उस स्वातंत्र्य का होना उसमें आवश्यक है, जिसे उन्होंने अविनय और अनियंत्रण का नाम दे रखा है।

और सच कहा जाये तो इन्हीं तत्त्वों से यौवन का निर्माण होता है, यौवन के सुनहरे स्वप्न इन्हींसे बनते हैं। युवक तो सदा स्वप्न ही देखता है; न कभी सोता है, न जागता है। सोते तो अबोध बच्चे हैं, और जागते हैं चिन्ताग्रस्त बुड्ढे।

स्वप्न तुम्हारे गज़ब के होते हैं। कभी तो तुम तेज़ाब-जैसे प्रणय के सुखद वायुमण्डल में तैरने लगते हो, और कभी द्वेष के शांतिप्रद दावानल में सुलगने लगते हो। तुम्हारे राग और विराग दोनों के ही स्वप्न मधुमय होते हैं।

तुम एक ही क्षण में अपना तन, अपना मन और अपना सर्वस्व कोमल या कठोर वासना के चरणों पर अर्पण कर देते हो।

तुम अपने यौवन काल में कवि-जगत् की नयी-पुरानी उपमाओं का प्रयोग करते-करते कभी थकते नहीं।

तुम्हारी मान्यता है कि कमबख्त मनुष्य-योनि प्रेम को 'प्रगट' करने के लिए उपयुक्त नहीं। इसलिए तुम कभी तो भ्रमर और कीट बन जाते हो, कभी चकोर और चातक, और कभी मीन और मयूर!

ठोस आलोचक तुम्हारे उन्मत्त कल्पना-विहार को मोह और गंदगी में सना हुआ भले ही देखें, तुम तो उसे अपनी ज़बान या क़लम से शुद्ध और दिव्य प्रेम ही कहोगे।

तुम्हारी 'दिव्य' की व्याख्या भी अनूठी है। तुम स्वर्ग को भी देखते हो, तो शैतान में ही। तुम्हारे ईश्वर का वास वासना में है, अतः तुम्हारी प्रत्येक वासना दिव्य है। जिसे कि वे नरक मानते हैं उसे तुम स्वर्ग कहते हो; और जिसे वे स्वर्ग समझते हैं, उसे तुम नरक कहते हो। वृद्ध-दृष्टि और युवक-दृष्टि में यही तो मौलिक अन्तर है।

जो जैसा हो उसको वैसा ही देखना या मानना युवक का धर्म नहीं। यथार्थ दर्शन तो जड़ या स्थिर बुद्धिवालों का काम है। स्थित-प्रज्ञता का दोष तुम तरुणों में नहीं मिलेगा।

तुम्हारा एक-एक शब्द वज्र के हथौड़े से गढ़ा हुआ होता है, यद्यपि होता वह मोम का है। जब तुम बोलते हो, तुम्हारी शब्द-योजना तब बड़ी भीषण और मोहक होती है।

तुम्हारा स्वाभाविक गुण अहंकार फूला नहीं समाता, जब तुम छाती ठोक-ठोककर कहते हो—"सागर को मैं श्वास के स्फुलिंगों से ही सुखा दूँगा; हिमाद्रि की पसलियों को अपने वज्र-मुक्के से चूर-चूर कर दूँगा; मेरे गम्भीर गर्जन से पृथिवी थर-थर

काँपने लगेगी; सूर्यमंडल को तो मैं एक ही झटके से नीचे गिरा दूँगा। मैं युवक हूँ; मैं विप्लव का प्रलयंकर रक्त-दूत हूँ।"

यथार्थवादी आलोचक तुम्हारा सिंहनाद सुनकर कहेगा—यह सब तो तुम्हारा उन्मत्त प्रलाप है। न तो सागर ही सूखा, न हिमाद्रि की पसलियाँ ही चूर-चूर हुईं, न पृथिवी ही कुछ डगमगायी, और न सूर्यमंडल ही ऊपर से खिसका।

ग़रीब आलोचक इसीलिए गड़बड़ में पड़ जाता है कि वह तरुणों की अतुकान्त कविता को ठीक-ठीक समझता नहीं। गणित का दुर्बल ज्ञान रखनेवाला ठोस आलोचक युवक के रोमांचकारी भावों और भाषा का अर्थ भला कैसे समझ सकता है?

अहंकार और मनोविकारों को दबाने या दफनाने का दुर्भाग्य-पूर्ण प्रयत्न करनेवालों की घातक बुद्धि तुम्हारी कठिन-कोमल भाषा को ग्रहण कर ही नहीं सकती।

कई पूर्वकालिक युवकों ने पथभ्रष्ट होकर अपनी यौवन-सम्पत्ति को कठोर तपश्चर्या में लगा दिया था। यौवन-काल के आरंभ में ही वे रोग, जरा और मृत्यु से भयभीत हो गये थे। जीवन के रमणीय वसन्त में उन अभागों ने अपने हाथों आग लगा दी थी और इसी तरह रक्त-संघर्ष से भी पीछे क़दम हटा लिया था।

फिर भी उलटी खोपड़ी के स्तुतिकारों ने उनके ऐसे-ऐसे युवक-विरुद्ध आचरणों की महिमा गायी। उन अकालवृद्ध युवकों की नीरसता को बड़ी शान से 'मार-विजय' का नाम दिया गया, और उनकी कायरता को 'विश्व-विजय' के नाम से पुकारा गया!

युवकों को उनके इस कुकृत्य से शर्मिन्दगी उठानी पड़ी।

उनके उन अनुचित कृत्यों का तुम्हें आज प्रायश्चित्त करना पड़

रहा है। काम और क्रोध को अपने यौवन-रक्त से सींच-सींचकर उनके ऐतिहासिक कलंक को तुम आज धो रहे हो।

पूर्वकाल के उन पथ-भ्रष्ट तरुणों को तुमने तार दिया। तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन-क्रम स्तुत्य है।

: १७ :

वृद्ध से

लोगों का यह घोर अज्ञान ही है, जो उनसे कहलाता है कि म वृद्धावस्था से सदा परेशान रहते हो। श्वेत केशों और ार्दन्त मुँह ने तो तुम्हें आज बालकों और युवकों के सामने, बिना ी प्रयास के, 'श्रद्धा-भाजन' बना दिया है। उनसे भला तुम कभी रेशान हो सकते हो? सो वृद्धावस्था तो तुम्हारे लिए एक रदान है।

ये शुभ दिन तुम्हें कितनी लम्बी प्रतीक्षा के बाद देखने को ले हैं, इसका अन्दाज़ा टीकाकार युवकों को आज हो नहीं कता। दूसरों से सेवा कराने की तुम्हारी सुन्दर जीवन-साध आज ाकर कहीं पूरी हुई है।

शरीर शिथिल न पड़ता तो दूसरों से सतत सेवा लेने का ोग तुम्हें मिलता ही कैसे? और तुमने उन्हें भी तो कृतार्थ ्या है, जिन्हें कि सेवा करने का यह स्वर्ण अवसर दिया है।

मेरी हिमाक़त

निरन्तर सेवा कराते-कराते उनके धैर्य की तुम कड़ी परीक्षा भी तो ले रहे हो। कारण कि परेशान तो सेवक ही हो सकता है, सेव्य कभी नहीं।

यह अच्छा है कि तुम उनकी सेवा-शुश्रूषा से सन्तोष नहीं मानते। तुम्हें आशंका बनी रहती है कि सन्तोष प्रगट करने कहीं उनकी सेवा की गति मन्द न पड़ जाये, और इस तरह उ कृतकृत्य होने का लाभ न मिले।

लेकिन सेवा करनेवाले भी कुछ ऐसे मिल जाते हैं, जो तुम्हा असन्तोष को पराजित करके ही छोड़ते हैं। वे समझ लेते हैं कि तुम रीझोगे तो केवल सेवा से ही—तुम्हारी शिथिल बुद्धि के आगे दलीलों से काम नहीं चलेगा।

उनके कामों में तुम कुछ-न-कुछ दोष ढूँढ़ते ही रहते हो। अपने लम्बे घिसे-पिसे अनुभवों के आगे तुम्हें उनका हरेक काम अधूरा ही दिखता है।

और वे भी कैसे मूर्ख हैं, जो तुम्हें मन्द दृष्टिवाला समझकर धोखा देना चाहते हैं! कमबख्त यह नहीं समझते कि तुम बूढ़ों की दृष्टि को ईश्वर ने कान दिये हैं। देखने का काम तुम कानों से चला लेते हो, और सुनने का काम आँखों से।

अद्भुत है कि तुम्हारी एक इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है, तो दूसरी में तेज़ी आ जाती है। जिह्वा में तो ऐसी स्फूर्ति और जवानी आ जाती है कि देखकर आश्चर्य होता है। तुम्हारी बूढ़ी वाणी का प्रवाह रुकना नहीं जानता। सुननेवाला कोई न भी हो, तब भी बोलना तुम्हारा उसी गति से जारी रहता है। चारपाई पर पड़े-पड़े खूँ-खूँ करते रहते हो, और ज़बान से सारे दिन फूल झड़ते रहते हैं।

स्वाद की पूर्ण रसज्ञ भी तुम्हारी ही जिह्वा होती है, क्योंकि बालक को तो कुछ भी देकर फुसला लिया जाता है, और युवक को उसके यौवन की मस्ती भुलावे में डाले रहती है—लक्कड़-पत्थर भी चबा जाता है, और स्वाद का पता नहीं चलता।

तुम कितने सहृदय हो कि अपने जर्जरीभूत शरीर के प्रति भी तुम्हारा अनुराग दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। जिस शरीर ने तुम्हें तीनों पनों में बेहद सुख पहुँचाया उसके प्रति चौथे पन में अत्यधिक अनुराग का होना स्वाभाविक ही है। देह के प्रति विराग तो किसी कृतघ्न वृद्ध को ही होता होगा।

युवावस्था में किसी 'रोमांस' के फेर में पड़कर जगत् को भले ही तुमने कभी मिथ्या माना हो, पर वृद्धावस्था में तो तुम उसे सत्य और सुखदायी ही मानते हो। संसार से ऊबकर आत्मघात अधिकतर अधीर युवक ही करते हैं—प्रबुद्ध वृद्धजन ऐसा पापकर्म कभी नहीं करते।

तुम खीज उठते हो कि लोग तुम्हें राम-नाम जपने का उपदेश क्यों देते रहते हैं? जिसकी आँखों के सामने सारे जीवन का लेखा-जोखा रखा हो, कितने ही अधूरे काम करने को पड़े हों और बुढ़ापे में आराम से कुछ सोचने की फुर्सत मिली हो, वह दुनिया से विदाई लेते समय क्यों व्यर्थ राम का नाम जपे?

यह तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अबोध बच्चों का काम है, जिनके सुकुमार कन्धों पर न तो कोई ज़िम्मेदारी होती है, न भला-बुरा सोचने की कुछ समझ ही।

समाज ने तुम्हारे खिलाफ़ प्राचीन काल में न जाने क्यों यह काला क़ानून बना डाला था कि तुम्हें चौथे पन में तप करना

निरन्तर सेवा कराते-कराते उनके धैर्य की तुम कड़ी परीक्षा भी तो ले रहे हो। कारण कि परेशान तो सेवक ही हो सकता है, सेव्य कभी नहीं।

यह अच्छा है कि तुम उनकी सेवा-शुश्रूषा से सन्तोष नहीं मानते। तुम्हें आशंका बनी रहती है कि सन्तोष प्रगट करने से कहीं उनकी सेवा की गति मन्द न पड़ जाये, और इस तरह उन्हें कृतकृत्य होने का लाभ न मिले।

लेकिन सेवा करनेवाले भी कुछ ऐसे मिल जाते हैं, जो तुम्हारे असन्तोष को पराजित करके ही छोड़ते हैं। वे समझ लेते हैं कि तुम रीझोगे तो केवल सेवा से ही—तुम्हारी शिथिल बुद्धि के आगे दलीलों से काम नहीं चलेगा।

उनके कामों में तुम कुछ-न-कुछ दोष ढूँढ़ते ही रहते हो। अपने लम्बे घिसे-पिसे अनुभवों के आगे तुम्हें उनका हरेक काम अधूरा ही दिखता है।

और वे भी कैसे मूर्ख हैं, जो तुम्हें मन्द दृष्टिवाला समझकर धोखा देना चाहते हैं! कमबख्त यह नहीं समझते कि तुम बूढ़ों की दृष्टि को ईश्वर ने कान दिये हैं। देखने का काम तुम कानों से चला लेते हो, और सुनने का काम आँखों से।

अद्भुत है कि तुम्हारी एक इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है, तो दूसरी में तेज़ी आ जाती है। जिह्वा में तो ऐसी स्फूर्ति और जवानी आ जाती है कि देखकर आश्चर्य होता है। तुम्हारी बूढ़ी वाणी का प्रवाह रुकना नहीं जानता। सुननेवाला कोई न भी हो, तब भी बोलना तुम्हारा उसी गति से जारी रहता है। चारपाई पर पड़े-पड़े खूँ-खूँ करते रहते हो, और ज़बान से सारे दिन फूल झड़ते रहते हैं।

स्वाद की पूर्ण रसज्ञ भी तुम्हारी ही जिह्वा होती है, क्योंकि बालक को तो कुछ भी देकर फुसला लिया जाता है, और युवक को उसके यौवन की मस्ती भुलावे में डाले रहती है—लक्कड़-पत्थर भी चबा जाता है, और स्वाद का पता नहीं चलता।

तुम कितने सहृदय हो कि अपने जर्जरीभूत शरीर के प्रति भी तुम्हारा अनुराग दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। जिस शरीर ने तुम्हें तीनों पनों में बेहद सुख पहुँचाया उसके प्रति चौथे पन में अत्यधिक अनुराग का होना स्वाभाविक ही है। देह के प्रति विराग तो किसी कृतघ्न वृद्ध को ही होता होगा।

युवावस्था में किसी 'रोमांस' के फेर में पड़कर जगत् को भले ही तुमने कभी मिथ्या माना हो, पर वृद्धावस्था में तो तुम उसे सत्य और सुखदायी ही मानते हो। संसार से ऊबकर आत्मघात अधिकतर अधीर युवक ही करते हैं—प्रबुद्ध वृद्धजन ऐसा पापकर्म कभी नहीं करते।

तुम खीज उठते हो कि लोग तुम्हें राम-नाम जपने का उपदेश क्यों देते रहते हैं? जिसकी आँखों के सामने सारे जीवन का लेखा-जोखा रखा हो, कितने ही अधूरे काम करने को पड़े हों और बुढ़ापे में आराम से कुछ सोचने की फुर्सत मिली हो, वह दुनिया से विदाई लेते समय क्यों व्यर्थ राम का नाम जपे?

यह तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अबोध बच्चों का काम है, जिनके सुकुमार कन्धों पर न तो कोई ज़िम्मेदारी होती है, न भला-बुरा सोचने की कुछ समझ ही।

समाज ने तुम्हारे खिलाफ़ प्राचीन काल में न जाने क्यों यह काला क़ानून बना डाला था कि तुम्हें चौथे पन में तप करना

ज़रूरी है; और घर से तुम क़ानूनन निकाल बाहर कर दिये जाते थे। सद्भाग्य है कि आज वह दुष्ट क़ानून रद हो गया है। अब न तुम्हें तप की ज़रूरत है न जप की। जप-तप तो अनाथ-अपाहिज किया करते हैं—तुम्हारे जैसे पुत्र-पौत्रादि-संपन्न भाग्यवान वृद्ध नहीं।

फिर तुमने तो सारी जिंदगी ही तप किया। गृहस्थी चलाना क्या तप नहीं है? उस महातप का ही यह फल है कि वासना और तृष्णा-जैसी दैवी सिद्धियाँ तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ी हैं।

तुम्हारी ज़िम्मेदारी कम नहीं हुई, बल्कि और बढ़ गयी है। लड़कों की कच्ची बुद्धि पर तुम्हारा विश्वास नहीं। और जिसने इतना बड़ा ज़माना देखा है, वह सहसा किसीपर विश्वास करे क्यों?

तुम्हारी मान्यता है कि तुम्हारे परिपक्व निर्णयों पर जो विश्वास नहीं करता, वह ग़लती करता है, पाप करता है—क्योंकि तुम मानते हो कि बूढ़े आदमी जो भी निर्णय करते हैं, वह हमेशा शुद्ध ही होता है।

तुम मानते हो कि लड़के किसी शुद्ध निर्णय पर पहुँच ही नहीं सकते, और तुम्हारी व्याख्या के अनुसार वे सब लड़के ही हैं, जिनकी उम्र तुमसे कम है—कम चाहे एक-दो साल ही क्यों न हो!

युवक कहते हैं कि उनके 'अविनयी' बनने की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी वृद्धों पर है—वृद्धों ने बलात्कारपूर्वक उनसे आज्ञा-पालन कराने का हमेशा ही प्रयत्न किया और इसीलिए वे उनके खिलाफ़ विद्रोही बन गये।

तुम्हारा कहना बिल्कुल सही है कि युवकों का यह आरोप भी पूरी अविनय से भरा हुआ है। तुम उसी युवक को विनयशील

मानते हो, जो तुम्हारे सामने न तो आँख मिलाने की जुर्रत कर सकता है, न मुँह खोलने की—जो बुजुर्गों के निर्णय को कभी शंका की दृष्टि से नहीं देखता, और उनकी बात का जवाब देना जो घोर पाप समझता है।

ऐसे विनयशील पुत्र-पौत्रादि तुम्हारे भाग्य में दुर्लभ हैं, अतः कलियुग को तुम हमेशा कोसते रहते हो!—वैसे ही, जैसे कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें और तुम्हारे पितामह ने तुम्हारे पिता को 'कुपूत' कहकर कलियुग को कोसा था।

तब क्यों न यह सिद्धान्त स्थिरकर लिया जाये कि बालक और युवक सब-के-सब कलियुगी होते हैं और वृद्ध सभी सतयुगी?

बुढ़ापे ने तुम्हारी दृष्टि को इतना तेज़ कर दिया है कि काल्पनिक खतरे को भी तुम बहुत दूर से देख लेते हो। इसीलिए दूसरों के काम में तुम अधिक आपत्ति करते हो। ऐसी कोई चीज़ तुम्हारी नज़र से नहीं गुज़रती, जिसमें तुम कोई-न-कोई आपत्ति न उठाते हो, और चेताते रहने का तो तुम्हारा मानो स्वभाव बन गया है।

सलाह देना—अक्सर बिना चाहे ही—तुम्हें बहुत पसन्द है। सलाह तुम्हारी काफ़ी लम्बी चलती है। 'ज़रा देखो, सोचो, समझो' —यह बुजुर्गाना शब्द तुम्हारी सलाह में ज़रूर रहेंगे। मौत तुम्हें बुलाने आयेगी, तो उस नासमझ को भी तुम शायद यही नेक सलाह दोगे।

निरीक्षणों और अनुभवों का तुम्हारे सर पर इतना भारी बोझ है कि पैर मुश्किल से आगे को उठते हैं। क़दम किसी तरह उठाया भी, तो आगे रखने में हिचक होती है। तुम्हारी परिमार्जित शंका-शीलता ने तुम्हें इतना ज्यादा सावधान बना दिया है!

यह तुम्हारी अनुभव-सिद्ध सतर्कता का ही फल है, जो तुम हरेक बालक और युवक को सन्देह की दृष्टि से देखते हो। तुम्हारी यह वृद्धोचित धारणा बिल्कुल दुरुस्त है कि शंका या सन्देह से परे केवल एक तुम्हीं हो।

अपनी बात मनवाने में तुम बहुत ज्यादा जिद करते हो, क्योंकि तुम्हें भरोसा है कि तुम्हारे सफ़ेद बालों और पोपले मुँह ने तुम्हें निश्चित निर्णय पर पहुँचा दिया है, अतः तुम्हारी बात मान लेने में ही भलाई है।

जगत् के प्रति तुम्हारी कल्याण-कामना इतनी अधिक बढ़ गयी है कि युवकों को ही नहीं, बालकों को भी तुम अपने-जैसे ही समझदार, शान्त और धीर प्रकृति के देखना चाहते हो। तुम्हें कैसा लगता होगा कि वे इतने चुलबुले, इतने अधीर, इतने अल्हड़ और इतने नासमझ क्यों हैं?

पर तुम शायद तब यह भूल जाते हो कि अज्ञान-सूचक उनके काले बाल अभी सफ़ेद कहाँ हुए हैं, अल्हड़ यौवन के प्रतीक दाँत अभी कहाँ गिरे हैं, उद्धतता की निशानी कमर अभी कहाँ झुकी है?

तुम्हारे हृदय में रह-रहकर जलन-सी उठती होगी कि इन बालकों और युवकों में क्यों इतना उबाल और उफान है? ये उद्धत अभिमानी प्राणी तुम्हारे ही जैसे शिथिल और शान्त क्यों नहीं हो जाते!

: १८ :

चिकित्सक से

चिकित्सक, तुम्हें सारा जगत् रुग्ण या अस्वस्थ ही नज़र आता है। मनुष्य-शरीर का पुर्जा-पुर्जा तुम्हें ढीला-ढाला और अस्तव्यस्त ही दीखता है। और उन्हें कसने की या फिर से अपनी-अपनी जगह पर बिठाने की तुम्हें दिन-रात चिन्ता रहती है। लेकिन गनीमत है कि इस चिन्ता में तुम्हें सच्चा आनन्द आता है।

निरंतर रोगों के ही सम्पर्क में रहते-रहते तुम्हें आरोग्य का कभी अनुभव भी नहीं होता होगा? स्वस्थ मनुष्य इसीलिए तुम्हें अजनबी-सा लगता है।

मनुष्य प्रकृति के संसर्ग में रहे, यह तुम्हें बिल्कुल पसन्द नहीं। तुम नहीं चाहते कि श्रेष्ठ मानव-प्राणी वन्य पशुओं का अनुकरण करे। तुम्हारी मान्यता है कि प्रकृति के सहारे स्वस्थ बने रहने में कोई तारीफ़ नहीं, कोई पुरुषार्थ नहीं। पुरुषार्थ तो यह है कि

प्रकृति के नियमों की अवज्ञा करके रोगों को बुलाया जाये और फिर चिकित्सा के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा उनका अच्छी तरह मुक़ाबिला किया जाये।

और प्रकृति की अवहेलना करने में तुम उसे, ख़ासकर शहरों में, पूरा उत्तेजन देते हो। तुम्हारे बल पर वह प्रकृति के क़ानून को कुछ भी नहीं समझता।

पशु में इतना साहस कहाँ कि वह प्रकृति के विरुद्ध जा सके? उस अपूर्ण प्राणी में अब भी इतना बौद्धिक विकास नहीं हो सका कि स्वास्थ्यरक्षक नियमों को धता बता सके। दुर्भाग्य से उसे निर्भय बनानेवाला कोई वैद्य-डाक्टर नहीं मिला।

और मनुष्य कैसे निर्भय बन गया? क्योंकि पहले तुमने क़दम-क़दम पर उसके अन्दर भय का संचार किया—जैसे, धूप और सरदी में खुले बदन घूमना ख़तरे से खाली नहीं; ओस में सिर खोलकर सोना हानिकारक है; पानी, हवा और मिट्टी का अधिक संसर्ग भयावह है।

मनुष्य ने विकास पाकर यह बड़ी बुद्धिमानी का काम किया कि प्रकृति की गोद छोड़कर तुम्हारी निर्भय शरण में चला आया।

और यही कारण है कि तुम्हारा अस्तित्व आज उसे बड़ा आवश्यक हो गया है, मानव-जीवन के तुम एक अविच्छिन्न अंग बन गये हो। खर्च का सालाना अन्दाज़-पत्र बनाते वक्त तुम्हारी भी अमंगल-सूचक मद रखनी पड़ती है।

सद्भाग्य से तुम्हें ऐसे भी कुछ समझदार जीव मिल जाते हैं, जिन्हें किसी-न-किसी दवा का नियमित सेवन करने अथवा साल में एक-दो बार शरीर-यंत्र की परीक्षा कराने की तुम सलाह देते रहते हो।

परन्तु जो शिक्षित और श्रद्धालु होते हैं, वे खुद ही निश्चित भेंट लेकर तुम्हारे दरवाज़े पर सलाह लेने पहुँच जाते हैं।

तुम भेंट अर्थात् फ़ीस लेते समय कभी संकोच या मुरौवत करने की कमज़ोरी नहीं दिखाते। अमीर-ग़रीब, सुखी-दुखी, सबका रुपया तुम्हारे महोदर में समभावपूर्वक स्थान पाता है।

नाई, बढ़ई या लुहार वैसी मूर्खता कर सकता है, पर तुम नहीं। कारण कि अपने असीम बुद्धिबल से तुमने यह सिद्ध कर दिया है कि तुम्हारा पेशा उनके पेशों से बहुत ऊँचा और पवित्र है।

तुम जो कुछ करते हो, प्रयोग की शुद्ध दृष्टि से, अनासक्ति की उच्च भावना से ही करते हो। इसलिए रोगी के जीवन-मरण का तुम्हारी निश्चित फ़ीस पर कभी कोई असर नहीं पड़ता।

तुम जब रोगी के शरीर-यंत्र की परीक्षा करते हो, तब तुम्हारी मुख-मुद्रा बड़ी गम्भीर हो जाती है। जब तुम उसे नतीजा सुनाते हो, तो उसका चेहरा फक पड़ जाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि उसके प्राण-पक्षी तुम्हारे ही हाथ में हैं।

नये-नये रोगों की खासी लंबी फ़ेहरिस्त पेश करके उसकी मानसिक चिंता बढ़ाने में तुम कुछ उठा नहीं रखते। कभी तो वह मृत्यु का चिन्तन करता है, और कभी तुम्हारा। फिर तुममें भी अनेक प्रकार और कई दरजे हैं। कभी वह तुममें से एक का दरवाज़ा खटखटाता है, कभी दूसरे का। एक कुछ रोग बताता है, दूसरा कुछ और। एक चीर-फाड़ कराने की सलाह देता है, दूसरा दाँत उखड़वाने की और तीसरा सारा काम-काज छोड़कर किसी समुद्र-तट पर या पहाड़ पर विश्राम लेने की।

रोगी बेचारा अजीब चक्कर में पड़ जाता है। आधी इसकी

सुनता है, आधी उसकी। पर दक्षिणा तो हरेक चिकित्सक के चरणों पर पूरी ही चढ़ानी पड़ती है।

बाद में कभी-कभी यह भी सिद्ध होता है कि रोग उसे कुछ भी नहीं था—उसकी एक-एक हड्डी तो तुम्हारे दिये चिंता-रोग से ही घुल गयी थी।

फिर भी, शरीर-यंत्र के कितने ही पुर्जों की मरम्मत, अपना घरबार बेचकर भी, तुमसे कराने के लिए वह श्रद्धावान् मरीज़ तैयार हो जाता है।

शरीर के अन्दर का छाया-चित्र लेकर तुम अक्सर रोगी का विषैला अंग काट डालने की निस्संकोच सलाह दे देते हो, किंतु कोई-कोई ऐसे मूढ़ग्राही होते हैं कि मृत्यु का जोखम लेकर भी मरीज़ का पैर या हाथ कटवाने को राज़ी नहीं होते! यह भी देखा गया है कि कमबख्त रोगी कभी-कभी मामूली तेल-मालिश से ही अच्छा हो जाता है, और जिंदगी-भर के लिए अपंग हो जाने के परमसुख से उसे वंचित रहना पड़ता है।

और कोई-कोई अश्रद्धालु मरीज़ शल्य-क्रिया कराते-कराते ही स्वर्ग सिधार जाते हैं।

पर कोई दुर्भाग्य का मारा अपने हाथ या पैर से अथवा प्राणों से ही हाथ धो बैठे, तो उसके तुम जवाबदेह नहीं। तुम्हारे लिए बस इतना काफ़ी है कि तुम्हारी चिकित्सा ताज़ी-से-ताज़ी वैज्ञानिक शोध का परिणाम थी और तुम्हारा हेतु भी शुद्ध था।

इसमें शक नहीं कि तुम्हारे वैज्ञानिक आविष्कार अद्भुत हैं। ब्रह्मा ने खाने-पीने के लिए मुँह बनाया था। वह तुम्हें अपर्याप्त मालूम दिया और तुमने एक नयी शोध कर डाली। शरीर में

कहीं भी छेद करके पिचकारी के द्वारा दवा का प्रवेश बड़ी आसानी से करा देते हो। इस सुन्दर अप्राकृतिक शोध का तुम्हारे उपचारों में आज बड़े महत्त्व का स्थान हो गया है।

तुम ऐसे कितने ही अपेय और अभक्ष्य पदार्थों को उदरस्थ करा देते हो, जिनकी शायद कल्पना भी मनुष्य घृणा के साथ करेगा।

मानव-कल्याण की तुम्हें इतनी अधिक चिन्ता है कि उसकी खातिर तुम लाखों निरीह प्राणियों का वध कर डालते हो।

तुम्हारे सद्भाग्य से जब कोई संक्रामक रोग फैलता है, तुम्हें मंगलोत्सव का अनुभव होता है। किसान को जैसे वांछित समय पर वर्षा होने से महान् आह्लाद होता है, वैसा ही आनन्द और उल्लास तुम्हें संक्रामक रोगों के भयंकर प्रकोप से होता है। उन दिनों घर-घर तुम्हारा स्वागत-सत्कार होता है, और तुम्हारी जेबें फूली नहीं समातीं।

मगर जिस साल लोगों की प्रकृति में कोई खास फेरफार नहीं होता, या वे अपना आहार-विहार ठीक रखते हैं, वह साल तुम्हारा सूखा ही जाता है।

तब तुम्हें तलाश-तलाशकर स्वस्थ मनुष्यों में भी अस्वास्थ्य का आरोप करना पड़ता है। किसी अद्भुत रोग से या उसके आने की आशंका-मात्र से ही तुम उन्हें चिन्तित और भयभीत कर देते हो।

तुम्हारे बड़े-बड़े दावे होते हैं। नियम से अखबार पढ़नेवालों को तुम्हारे अद्भुत दावों का प्रमाण मिलता रहता है। अखबार तुम्हारी चमत्कारी दवाइयों की महिमा गाते कभी अघाते नहीं।

जैसे जहाँ धुआँ, वहाँ आग—वैसे ही जहाँ अखबार, वहाँ दवा का विज्ञापन। तुम्हारी दवाएँ काया तक पलट देने का सामर्थ्य रखती हैं। धर्म और ईश्वर की ओर जाने की चिन्ता रखनेवाले वृद्ध मानव के हृदय में वे एक बार फिर कामिनी-कांचन से लिपटने की लालसा जगा देती हैं।

बूढ़े ऋषि च्यवन को चिर यौवन दिला देनेवाली औषधियों का स्तुति-पाठ जब सुनते हैं, तो तुम्हारे चरणों पर अतृत विषय-सेवियों का मस्तक आप-से-आप झुक जाता है।

सभ्य धनिकों के घरों में तुम्हारी हितकारी सलाह की बड़ी क़द्र है। कैसे पानी से नहायें, कहाँ सोयें, क्या खायें, क्या पीयें, क्या पहनें आदि गूढ़ प्रश्नों पर वे तुम्हारी सलाह लेना बहुत ज़रूरी समझते हैं।

तुमने उन्हें कीटाणुओं से इतना ज्यादा डरा दिया है कि सामान्य लोगों के संपर्क से—जो अक्सर गंदे होते हैं—वे अपने को बिल्कुल अलग रखते हैं।

उनका स्वास्थ्य तुमने मकड़ी के जाले के जैसा नाजुक बना दिया है। ज़रा-ज़रा में उन्हें जुकाम हो जाता है, सिर दर्द करने लगता है, हरारत हो आती है।

बड़े घरों में तुम संयत जीवन को घुसने भी नहीं देते, और तुम्हारा उत्तेजन पाकर विषय-भोगों का धड़ल्ले से लोग सेवन करते हैं। परिणामतः तुम्हारे कई शुभचिंतक वहाँ पहुँच जाते हैं—जैसे मंदाग्नि, मधुमेह, रक्तदबाव, दमा, हृद्रोग और राजयक्ष्मा।

दिन में कई बार ताप-मापक यंत्र का प्रयोग होता है, दीवार पर तालिका टँगी रहती है, मल-मूत्र की परीक्षा शुरू हो जाती है,

जीभ देखी जाती है, शरीर बार-बार तोला जाता है, अन्तर्चित्र उतरने लगते हैं, घर शीशियों से भर जाता है—सारा वातावरण भयोत्पादक बना दिया जाता है।

दवाखानों और अस्पतालों की संख्या जिस तरह दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है, उसे देखकर मानव-सभ्यता के विकास का माप आज आसानी से किया जा सकता है।

चिकित्सालयों के संचालकगण जब बड़े गर्व से सुनाते हैं कि उनके मरीज़ों की संख्या क्रमशः कितनी बढ़ गयी है, तब तुम्हारे अथक और अकथ प्रयत्नों का ठीक-ठीक पता चलता है कि तुमने अस्वस्थ समाज को कितना अधिक आरोग्य प्रदान किया है।

दुर्भाग्य से जिस साल मरीज़ों की संख्या कुछ गिर जाती है, उस साल की रिपोर्ट सुनाते हुए संचालकों को लज्जा और दुःख का अनुभव होता है।

तुम्हारा अद्भुत गणित रोगों की वृद्धि और दवाइयों की खपत से समाज के आरोग्य का माप निकालता है।

किसी-न-किसी व्याधि से मनुष्य पहले भी मरता था; पर मरना तब वह जानता नहीं था। उसे या उसके आसपासवालों को मृत्यु का शायद भान हो जाता था। औषधियों की उपेक्षा कर दी जाती थी, और ईश्वर को वैद्य का स्थान दे दिया जाता था। रोगी की चारपाई के पास भगवान् का नाम जपने लोग बैठ जाते थे, और दान-पुण्य होने लगता था।

किन्तु तुम तो आज दूसरा ही दृश्य उपस्थित कर देते हो। आखिरी दमतक तुम प्रयत्नशील रहते हो। तुम्हें यह पसन्द नहीं कि रोगी शान्ति से प्राण छोड़े।

उस समय तुम आक्सिजन का संचार करने लगते हो। तुम्हारा विश्वास है कि धर्म-ग्रन्थों के पाठ से या ईश्वर के नाम-स्मरण से तुम्हारे रचे वातावरण में ख़लल पहुँचता है। उस प्रयाणशील प्राणी के सामने तुम्हारी भयंकर आकृतियाँ घूमती रहती हैं और शायद तुम्हें ही वह भ्रमवश यमदूत समझने लगता हो।

चिकित्सक, तुम्हारा एक प्राचीन नाम 'यमराज-सहोदर' भी तो है।

: १९ :

शासक से

शासक, तुम्हारा प्रयोजन यह बिल्कुल अर्थ-संगत है कि प्रजा के उत्कर्ष और विकास के लिए शासन आवश्यक है, और यह शोध आज की नहीं, अनादि काल की है। फूल तभी खिलता है, जब वह संपुट के नियन्त्रण में रह चुका होता है।

तुम्हारे प्रयोजन में इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि फूल संपुट का निर्माण स्वयं करता है, और उसे स्वशासन या स्वतन्त्रता पसंद है।

'स्वशासन' से तो तुम भी इन्कार नहीं करते। 'स्वायत्त शासन', 'लोक-शासन', 'प्रातिनिधिक शासन' आदि सुंदर, सुमधुर शब्दों की तुमने भी रचना कर डाली है। अतः प्रजा का उत्कर्ष या विकास तुम्हारे द्वारा भी निर्बाध ही होता है।

'स्वशासन' यों कोई नया शब्द नहीं है। इसका आविष्कार

बहुत पहले आरण्यक सत्य-शोधकों ने किया था—मगर एक बिल्कुल भिन्न अर्थ में।

इस शब्द से वे 'आत्मदमन' का अर्थ लेते थे। प्रजा की उन स्वार्थी चिंतकों को कोई चिंता नहीं थी। प्रजा के अभ्युदय के लिए यद्यपि बाद को कुछ स्मृतियाँ बनीं, परन्तु तंत्र या व्यवस्था की दृष्टि से वे अपूर्ण और अशुद्ध थीं। शासन तब शायद एक अत्यन्त संकीर्ण या केन्द्रीय शब्द था—इतना तब वह व्यापक नहीं बना था। उन व्यवस्थापकों के लिए समाज में 'आत्म-शासन' भर काफ़ी था।

ऐसे स्वशासन के काल्पनिक बल पर प्रजा का हित-संपादन कैसे हो सकता था? अतिप्राचीन काल में कुछ ऐसी ही अस्पष्ट राज्य-व्यवस्था थी।

राजा का शासन-तन्त्र तो तब बिल्कुल निर्बल होता था। तब का पौरुषहीन राजा चौथे पन में उत्तरदायित्व से डरकर अरण्य-वास करने चला जाता था।

उसका सारा ही शासन-प्रयत्न बेकार जाता था। कहते हैं, विनोदी सूर्य जैसे अपनी किरणों से जल को खींच-खींचकर फिर खेतों पर उँडेल देता है, उसी तरह तब का सनकी राजा अपनी प्रजा से राजस्व वसूल कर फिर उसीको लौटा देता था।

ऐसे ही वह और भी कितने ही निरर्थक काम किया करता था—कभी तो हल की मूठ पकड़ता था, कभी प्रजा के हित के लिए उपवास करता था, कभी अपनी स्त्री को घोर जंगल में भेज देता था, और कभी स्वेच्छा से भिक्षु बन जाता था।

जब कि शासन की दिशा में वर्तमान युग के राजा ने काफ़ी

सुधार और विकास किया है, आज के राज्यतन्त्र में वैसी बेवक़ूफ़ियाँ सुनने को नहीं मिलेंगी ।

'शासन' को 'शोषण' का समानार्थी बना देना कोई मामूली पुरुषार्थ का काम नहीं । यह शोध बिल्कुल वैज्ञानिक है । 'शासन' यदि प्रचलित अर्थ में दमन है, तो शोषण के साथ उसकी एक-रूपता होनी ही चाहिए । तुम्हारी दृष्टि में तो शासन हो या शोषण, उससे 'प्रजारंजन' ही होता है ।

किन्तु शासन को तो असल में लोक-तन्त्र से प्रतिष्ठा मिली है । यह बहुजनों के शुद्ध विवेकबल पर चलता है । तुम मानते हो कि बहुमानव ग़लती कभी कर ही नहीं सकता ।

और 'बहुमानव' हमेशा 'उत्तम मानव' होता है । 'पंच में परमेश्वर बसता है' इस सिद्धांत को भला कौन झुठला सकता है ?

सत्य हमेशा पाँच की तरफ़ ही झुकेगा—चार या तीन की तरफ़ नहीं । अतः हस्त-गणना के आधार पर चलनेवाले लोक-तन्त्र को अवश्य निर्दोष और सम्पूर्ण होना चाहिए ।

प्रजा-तन्त्र में चूँकि चर्चा या बहस के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है, इसलिए न्याय हमेशा वहाँ छन-छनकर ही बरसता है । और फिर जिस विवाद का उपसंहार 'हस्त-उत्थान'-पद्धति द्वारा होता हो, उसकी तरफ़ भला कौन उँगली उठा सकता है ।

धन्य है 'हस्त-अनुशासन' को ! सिद्धांत का अपवादों और समझौतों के साथ गठबन्धन कराकर दल के नेता ज़रा-सा इशारा देते हैं, और सैकड़ों हाथ बुद्धि और हृदय की उपेक्षा करके, एकदम ऊँचे उठ जाते हैं ! आश्चर्य ! आश्चर्य !!

वाद को ठुकराया हुआ मस्तिष्क भी हस्त-संकेती सत्ता की अधीनता स्वीकार कर लेता है, और उसे वह 'अनुशासन' का नाम दे देता है। सोचता है कि लोक-तन्त्र का निर्णय शुद्ध ही हुआ होगा, कारण कि इतने तमाम हाथों ने उठकर प्रस्तुत प्रश्न का आमूल मंथन किया है।

मंथन का काम पहले मस्तिष्क और हृदय के सुपुर्द था, वह अब प्रजा-तन्त्रवादियों ने 'हाथ' को सौंप दिया है।

मद्य को एक या दो-चार ही क्यों पियें? दो-दो चार-चार बूँद लाखों-करोड़ों को, और एक-एक प्याला उसका सौ-पचास जनों को क्यों न पिलाया जाये?

यह वक्तव्य कितना मधुर और मादक है कि राष्ट्र के सभी जन शासक हैं! तुम्हारे लिए यह प्रश्न उठाना अप्रस्तुत है कि राष्ट्र में कोई 'स्वशासित' भी हैं या नहीं?

तुम्हारी दृष्टि में राज-तन्त्र हो या प्रजा-तन्त्र, उसमें लोक-हित को स्वतः विकसित नहीं होना चाहिए, बल्कि शासन के इशारे पर लोक-हित को अपनी व्याख्या खुद बना लेनी चाहिए और 'बहुमानव'-द्वारा संचालित विधान-यन्त्र के पहिये पर लोक-बुद्धि और लोक-हृदय को ठीक तरह से घूमना चाहिए।

कभी-कभी तुम परस्पर का शासन ज़्यादा पसन्द करते हो। लोकमत राष्ट्रीय मद्य से प्रेरित होकर 'अधिनायक' का निर्माण करता है, और अधिनायक फिर लोकमत को अपने आतङ्क द्वारा मोह लेता है।

मगर एक बात तुम्हारे सभी तन्त्रों में व्यापक रहती है, और उसका व्यापक रहना ही तुम्हारे हक़ में श्रेयस्कर है—वह यह कि

साधारण प्रजा कभी भेड़ की कोटि से ऊपर नहीं उठती। वह भेड़िये और बाघ का भी स्वाँग भरना जानती है, पर कइयों को बाघ बनाकर भी वह अपना भेड़ का स्वरूप कभी त्यागना नहीं चाहती। चाहे भी, तो त्याग नहीं सकती।

राज-तन्त्र के आगे वह 'भेड़-प्रजा' वफ़ादारी ज़ाहिर करती है, यद्यपि हृदय में उसके विरक्ति और घृणा रहती है, और कभी-कभी डरते-डरते सफल या विफल विद्रोह भी कर बैठती है।

प्रजा-तन्त्र पर वह मोहित हो जाती है, सत्ता और जातीयता की मादक सुन्दरता को वह घट-घट में देखती है; चाहती है कि उसे उँड़ेलकर पी जाये, पर ओठों से जो चीज़ लिपटती है, वह प्रवंचना होती है!

अधिनायक-तन्त्र में वह देखती तो अपनी ही डरावनी परछाईं है, पर उसे ठीक-ठीक पहचान नहीं सकती!

तुम्हारा भाँति-भाँति का शासन-तन्त्र प्रजा के लिए अस्पष्ट-सा ही रहता है, चाहे उसकी आँखों में तुम कैसा ही मोहनांजन डाल दो।

प्रजा तुम्हारे विविध रूपों पर मोहित होना जानती है। और तुम्हें पदच्युत करना भी उसे आता है। पर यह अच्छा है कि प्रत्येक शासन-तन्त्र में तुम उसके लिए, और वह तुम्हारे लिए अजनबी-सी ही रहती है।

तुम्हारी दृष्टि में 'दमन' और 'अनुरंजन' ये दो शब्द शायद एक ही अर्थ को सूचित करते हैं, अथवा एक-दूसरे के पूरक हैं।

तुम्हारा चाहे कोई भी शासन-तन्त्र हो, थैलीवाद से वह बाहर नहीं जा सकता। थैली-वाद को प्रतिष्ठित करने के लिए तुम

संधि और विग्रह द्वारा अनेक प्रकार की योजनाएँ प्रस्तुत करते हो।

कभी-कभी असंस्कृत और अशासित जातियों को उनके तल से ऊपर उठा देने का पवित्र उद्देश लेकर भी तुम्हें ईश्वर के आदेश से उनपर शासन करना पड़ता है।

शान्ति और व्यवस्था की हमेशा तुम्हें चिन्ता रहती है, और कहीं वे ख़तरे में न पड़ जायें, इसलिए तुम्हें अक्सर अशान्ति और अव्यवस्था से काम लेना पड़ता है।

तुम खुद अपने आयोजनों द्वारा पैदा की हुई अशांति और अव्यवस्था को सदा शांति और व्यवस्था ही कहते हो। तुम्हारी और प्रजा की प्रवृत्तियों में यह पारिभाषिक अंतर दुर्भाग्य से या सद्भाग्य से हमेशा ही देखने में आता है।

तुम्हारी मर्यादा के अन्दर आते ही बड़े-बड़े गुनाह अपना असली रंग बदल लेते हैं, राष्ट्रहित के अनिवार्य साधनों में वे परिणत हो जाते हैं।

अविश्वास और संदेह की बुनियाद पर तुम्हें ऐसा शासन-तन्त्र स्थापित करना बहुत प्रिय है, जिसके उद्देश निष्ठुर शांति, घोषित व्यवस्था, और शोषक लोक-हित होते हैं।

अद्भुत है कि जन-हित की तुम्हारी सुन्दर योजनाएँ मूढ़ प्रजा की समझ में नहीं आतीं—उनको या तो वह मुग्ध दृष्टि से, या संदिग्ध दृष्टि से देखती है।

शासक, तुम्हें यह प्रस्ताव बिल्कुल नापसन्द है कि पशुओं की जंगली राज्य-व्यवस्था की तरफ़ लौट चलना चाहिए। उस व्यवस्था में, क्योंकि, न तो सांस्कृतिक विकास के लिए गुंजाइश

है, और न कोई वैधानिक योजनाएँ संगठितरूप से वहाँ चल सकती हैं।

अपने पक्ष के समर्थन में यद्यपि तुम कभी-कभी वन्य पशुओं, मधु-मक्खियों और चींटियों तक की मिसाल दे देते हो, पर असल में अपने शासन-तन्त्र के आगे सर्वत्र तुम्हें अव्यवस्था और अराजकता ही दीखती है।

शासक, तो क्या अंततक तुम एक पहेली ही बने रहोगे ?

: २० :

धर्मोपासक से

धर्मोपासक, तुम्हारी तर्कवाहिनी शास्त्रीय वाणी धर्म की क्या सारी ही प्राण-शक्ति को खींच लेगी? तुम्हारी गूढ़ उपासना किस तरह धीरे-धीरे अज्ञातरूप से धर्म का काया-कल्प करती जा रही है! अद्भुत! अद्भुत!!

प्राचीन युग में इससे बिल्कुल उलटा होता था। तब का शोषक धर्म अपने उपासकों के जीवन-तत्त्व का एक-एक बिन्दु खींच लेता था। ऐसी निष्ठुर उपासना से उनका सिर्फ़ अस्थि-कंकाल भर रह जाता था। और उस अजीब क्रिया को 'तप' कहा जाता था!

तब का उपासक या साधक प्रायः क्षीणकाय होता था; आज का धर्म क्षीणकाय दिखाई देता है।

तुम्हारी नयी-नयी शोधों ने सिद्ध कर दिया है कि तब का

रक्त-शोषक वलिष्ठ धर्म भी अरक्षित था; और आज का शोषित दुर्बल धर्म सुरक्षित है।

तुम मानते हो कि असल बल तो 'उपासक' का बल है, धर्म का 'अपना' बल कोई बल नहीं।

धर्म का शोषण करके तुमने धर्म को संरक्षण दिया है। तुम्हारे कृतज्ञता-पाश में धर्म ऐसा बँध गया है कि तुम्हारे आदेशों से वह बाहर नहीं जा सकता।

पहले के उपासकों पर धर्म का शासन रहता था; अब उसपर तुम उपासकों का शासन है, और इसीलिए वह सुरक्षित है।

तुम्हारी शोधों और प्रयोगों के पहले धार्मिक जगत् में लोग मानते थे कि धर्म स्वत: अपने से रक्षित है—कहते हैं, धर्म की रक्षा तब धर्म से ही होती थी।

पर यह उनका भ्रम ही सिद्ध हुआ। साथ ही, इसमें कोई पुरुषार्थ भी तो नहीं था। यह श्रेष्ठ आविष्कार तो तुमने किया कि धर्म की रक्षा अधर्म से भी हो सकती है, और होती है।

तुमने अनुभव किया कि तमस् और प्रकाश के बीच क्यों खामखा वैर या विरोध रहे? तुमने अपने धर्म-बल से दोनों को एक दूसरे की छाया तले सहज ही प्रतिष्ठित कर दिया!

प्राचीन धर्म-शोधकों के तो सारे प्रयत्न उलटे होते थे—उनकी साधना जैसे एक अतुकान्त कविता थी। और फिर भी उसे वे सनातन-सिद्ध कहते थे! जैसे—वे अवैर से वैर का, अक्रोध से क्रोध का और अहिंसा से हिंसा का शमन करना सिखाते थे।

मूल भूल उनकी तब, शायद, यह रही होगी कि अक्रोध, अवैर, अहिंसा–जैसी नकारात्मक वस्तुओं को उन्होंने 'धर्म' मान

लिया था। सहज को छोड़कर असहज की तरफ़ दौड़ना—भला, यह भी कोई धर्म-साधना है ?

इसी तरह एक और ग़लत रास्ता उन लोगों ने पकड़ लिया था। अर्थ और काम को भी वे धर्म से साधते थे; जब कि तुम्हारी सारी धर्म-साधना अर्थ और काम के द्वारा सम्पादित होती है।

तब के लोग तो धर्म द्वारा असल में स्वरक्षा चाहते थे—धर्म को उन्होंने इतना कठोर और इतना शक्ति-शाली मान रखा था कि उसकी रक्षा की उन स्वार्थ-साधकों को कोई परवा नहीं थी।

उनकी दृष्टि में अरक्षित धर्म अपनी व्याख्या स्वयं बनाता था, जब कि उसकी व्याख्या आज तुम्हारी सहज युक्तियों द्वारा निर्णीत की जाती है। क्या यह कोई मामूली विकास है ?

बुद्धिबल के अभाव में तब कोरे आचरण से काम लिया जाता था। 'धर्मं चर' का धुँधला दीपक उनके हाथ में रहता था। शुष्क आचरण पर वे तर्क-दुर्बल साधक भारी ज़ोर देते थे।

तब फिर वह अरक्षित धर्म अपने जड़ साधकों को किस तरह समृद्ध और सुखी बना सकता था ? तभी तो वे भाग्यहीन 'ऋषि-संज्ञक' प्राणी पर्ण-कुटियों या गिरि-कंदराओं में वन्य मनुष्यों या पशुओं की तरह निष्क्रिय पड़े रहते थे। उन क्षीणकाय दरिद्रों के पास कौपीन और कमंडलु के सिवाय और होता ही क्या था ?

तुम मानते हो कि धर्म तो मूलतः अशक्त है—उसमें इतनी शक्ति कहाँ कि वह खुद अपनी रक्षा कर सके। तुम्हारी इस तर्क-शुद्ध मान्यता में भला कौन ग़लती निकाल सकता है ?

नीति-बल से कभी धर्म की रक्षा हुई है ? वह तो युक्तिबल

ौर शरीरबल से ही होगी। और दूसरे धर्मोपासक भी तो ऐसा ही हते और करते हैं।

चाहे जैसे हो, जबतक भौतिक संगठन नहीं होगा, तबतक धर्म ो खतरा ही रहेगा और ईश्वर भी उसे आशीर्वाद नहीं देगा।

और वे भी तो द्वेष, द्रोह, कूट, भेद और हिंसा को धर्मा-ुष्ठान में आलिंगन देते हैं। वे सब आज कैसे सुसंगठित और ामृद्ध हैं! ईश्वर आज उनके वश में है—उनके ऊपर वह आशी-ााद के फूल बरसाता है, और उनके शत्रुओं पर नरक ी आग!

वह धर्म किस काम का, जो अर्थवाद में हमारा समर्थक न ो, जो काम-कांचन के निष्ठुर निग्रह से प्राप्त हो, और हमारे ात्रुओं को जो हमारे ही शब्दों में अभिशाप न दे सके?

तुम्हें लगता है कि धर्म इसीलिए खतरे में पड़ गया था कि राजनैतिक स्वार्थों में उसका पूरा प्रयोग नहीं हुआ; द्वेष और हिसा से उसे यथेष्ट पोषण नहीं मिला।

तुम्हारी यह धारणा सर्वथा सही है कि सत्यता, दया, क्षमा और अहिसा ने धर्म को निर्वीर्य कर डाला और यही कारण है कि उसका अस्तित्त्व तक खतरे में पड़ गया।

पर तुमने निश्चय ही उसे नाश होने से बचा लिया। अच्छा हुआ कि तुमने द्वेष का संजीवन बीज बो दिया। तुम्हारे सत्प्रयत्न से बुद्धि-भेद पैदा हो गया है। समता के प्रति उपेक्षा हो चली है। मनुष्य में प्रतिहिंसक वृत्तियाँ जाग उठी हैं। राज-प्रकरण और अर्थवाद ने निष्प्रभ दुर्बल धर्म को तेजस्वी और शक्तिशाली बनाने का निश्चय कर लिया है।

तुम्हारे मत से धर्म के ह्रास का एक ज़बर्दस्त कारण उसके
साधकों की 'निष्काम' या 'अहेतुक' साधना भी है।

प्रथम तो दया को धर्म का मूल घोषित करना, और फिर
उसके प्रयोग में कोई 'हेतु' न रखना—ऐसी निरर्थ साधना से
आखिर लाभ ही क्या? वह तो व्यर्थ का एक अव्यापार हुआ!

तुम्हें यह स्पष्ट हो गया है कि धर्म की रक्षा होगी तो ख़ालिस
व्यापारी बुद्धि से ही होगी। फल या फ़ायदे का विचार किये बग़ैर
धर्म का आचरण कर बैठना निरी मूर्खता है।

अनासक्ति का उपदेश करनेवाला धर्म आसमानी कल्पना की
'ब्राह्मी संपत्ति' को भले घर-बैठे प्राप्त करा दे, पर प्रत्यक्ष में तो
वह धर्म चार पैसे का भी फ़ायदा नहीं करा सकता।

इसीलिए तुम जिस धर्म की रक्षा का ज़िम्मा लेते हो, उसे
पहले 'लाभ-वाद' की अचूक कसौटी पर कस लेते हो।

इतना काफ़ी है कि तुम्हारा साध्य शुद्ध है—तुम्हें इसकी
चिंता नहीं कि साधन शुद्ध है या अशुद्ध। धर्म बच जायेगा, तो
साधन तो अपने-आप शुद्ध हो जायेंगे। यह पुराना विचार ग़लत
है कि धर्म-दृष्टि से देखा जाये, तो साध्य और साधन में कोई अंतर
नहीं, दोनों एक ही हैं। व्यवहार-मूढ़ ऋषियों की ही यह विचित्र
विचार-धारा थी।

मंत्रों के जो स्रष्टा या द्रष्टा थे उनका शायद व्यवहार-व्यापार
से बहुत कम संबंध रहा होगा। उन्हें इस बात का पता नहीं था
कि किन-किन साधनों से धर्मोपासक को लाभ पहुँच सकता है।
कम-से-कम तुम पुरातत्त्व-शोधकों को ऐसा कोई आर्ष प्रमाण
नहीं मिला।

तुमने देख लिया कि धर्म का आग्रह रखना अच्छा नहीं। आग्रह रखना तो तुम्हारी दृष्टि में जड़ता का लक्षण है। धर्म से चिपटे रहने में बुद्धिमानी नहीं। धर्मोपासना तो एक सुविधा की चीज़ होनी चाहिए। ऐसी कि, उसे चाहे जब हल्की मुट्ठी से पकड़ा जा सके और चाहे जब त्यागा जा सके।

सामान्य धर्म को कुंठित बुद्धिवाले आरण्यकों ने देशकाल-परिस्थिति की परिधि से बाहर माना था, और उससे सदा चिपटे रहने का आदेश दिया था। निश्चय ही यह अविकसित बुद्धि की सूझ थी। विशेष धर्म के प्रति किसी अंशतक आग्रह रखने की बात तो कुछ समझी भी जा सकती है, पर यह साधारण धर्म का आग्रह तो विचित्र ही है!

तुम्हारी धर्मोपासना तो तुम्हारी व्याख्या और तुम्हारे ही भाष्य का अनुसरण करेगी, कारण कि उसमें चेतना है, गुंजाइश है और सुविधा है।

अतः धर्मोपासक, तुम्हारा ही मार्ग राजमार्ग है।

: २१ :

खुद से

और अब कुछ अपनी भी तो कह डाल। तू खुद किसीसे किस बात में कम है ? सबकी स्तुति की है, तो ज़रा अपनी भी करले। आत्मस्तुति को तू कुछ बुरा तो समझता नहीं।

जिन बहुत-से गुणों को निर्दयतापूर्वक ग़लती से 'लोक-निन्दित' ठहरा दिया गया है, उन्हें भी तेरे साधु हृदय ने प्रीतिपूर्वक अंगीकार कर लिया है, तेरी इस सहृदयता और दयालुता की कौन स्तुति नहीं करेगा ?

तेरे अंतर में असंतोष की जो आग सुलग रही है, उसपर हमेशा तू उपेक्षा का पानी डालता रहता है। विचारों का केवल धुआँ ही उठता है, और उस धुएँ को तू बड़ी होशियारी से वाता-वरण में इधर-उधर उड़ा देता है।

उस आग से तेरा अंतर कहीं जल न जाय, इस बात का

तुझे बड़ा ध्यान रहता है, और इसीलिए अपनी खुद की व्याख्या-वाली शान्ति तुझे बड़ी प्रिय है।

लोग मन में कहते होंगे, तुझे निवृत्ति-पथ पसन्द है और तू खुद भी कभी-कभी ऐसा ही कहता है। पर तेरी विनय का कुछ पार! तू कितनी ही लोकनिन्दित प्रवृत्तियों पर आसक्त है, फिर भी इतना अधिक विनयशील है कि अपने उस महान् गुण को कभी किसीपर प्रगट नहीं करता।

तू किसीका जी नहीं दुखाना चाहता, तभी तो जिन चीज़ों में तेरा ज़रा भी विश्वास नहीं, उनपर भी तू दूसरों के प्रीत्यर्थ श्रद्धा-भाव दिखला दिया करता है!

तू सचमुच आत्म-त्यागी है। जिन लोगों से तेरा हार्दिक मत-भेद होता है, उन्हें भी प्रसन्न रखने के लिए अपनी आत्मा की आवाज़ पर तू कोई ध्यान नहीं देता। अपरिचित मतों के पीछे भी तू पैर घसीटता रहता है।

जब अंतरात्मा तेरी कटु आलोचना करती है, तब तू उसपर कान नहीं देता, क्योंकि तूने अपनी श्रवणेन्द्रिय को कम-से-कम उस अवसर के लिए जीत लिया है।

परनिंदा का स्वाद कटु कहा गया है, पर तू तो अस्वादव्रती ठहरा न? इसलिए रस तुझे उस कड़ुवाहट में भी आता है।

तू चूँकि आत्म-साधक है, आत्मोपासक है, इसलिए आत्म-निंदा सुनकर तुझे क्रोध आ जाये, तो इसमें ऐसा क्या अनुचित हुआ?

तेरी गुणग्राहकता से भला कौन इनकार कर सकता है? जब तू अपना स्तुति-पाठ सुनता है, तब ऐसा प्रगट करता है,

मानो संकोच के मारे गड़ा जा रहा है, पर अन्दर-अन्दर तू पुलकित और गद्गद हो जाता है।

तू कितना बड़ा अहिंसक है, जो तिरस्कार-पात्र गुणों को भी तूने अपने हृदय में प्रेम का स्थान दे रखा है! यह तेरी पवित्र सादगी ही है कि लोक-दृष्टि से छिपाकर अपने जीवन की हज़ार छेदवाली चादर को बड़ी ममता से ओढ़े हुए बाज़ार में बैठा है।

अपनी इस चतुराई पर तू अपने-आप मुग्ध है कि अपनी हज़ार छेदवाली चादर का पता नहीं लगने देता! लोग तेरी मैली चादर को धौली समझ रहे हैं। तुझे अपरिग्रह पर प्रवचन देना बहुत प्रिय है, यद्यपि तू अपने पास तीन-तीन, चार-चार कुरते, तीन-तीन धोतियाँ और और भी ढेरों सामान रखता है; क्योंकि अपनी आवश्यकताओं की मर्यादा तूने ऐसी बना रखी है, जो तेरी दृष्टि में परिग्रह का स्पर्श तक नहीं करती।

जब तेरे करुणार्द्र हृदय में दो बूँद दूध के लिए कलपते अस्थि-पंजर बच्चों का ध्यान आ जाता है, तो तेरे सेवापूत आँसू तेरी दूध की प्याली में टपक पड़ते हैं। पर अपनी करुणाशीलता बनाये रखने के लिए तुझे वह खारा दूध भी अनासक्ति के साथ रोज़ पीना ही पड़ता है।

तू दूसरों के लिए कष्ट उठाना खूब जानता है। दूसरों की टीका करने में कितना ही कष्ट उठाना पड़े, स्वधर्म समझकर उसमें तू क्लेश नहीं मानता। तेरा कोमल हृदय नहीं चाहता कि दूसरे तेरी टीका करने का कष्ट उठायें।

प्रयत्नशीलता में तेरा अटूट विश्वास है। अपने संकल्पों के

धागे को तू रोज़ तोड़ता है और रोज़ उसे बराबर जोड़ने का प्रयत्न करता है।

अद्भुत है रे, तेरी जीवन-यात्रा! तू जाना तो चाहता है उत्तर दिशा को और क़दम रखता है दक्षिण दिशा की ओर? तूने नरक-पथ को हमेशा स्वर्ग-पथ माना है। दूसरों की संग्रह-वृत्ति को देखकर तेरे हृदय में आग-सी जलती रहती है कि वे संयमी और वैराग्यशील क्यों नहीं हैं। इस आग को तू यज्ञ की अग्नि मानता है। पर तेरे सामने संग्रह का शीतल साधन आ जाये और वह तेरी अंतर्ज्वाला को बुझा दे, तो तुझे उससे असंतोष नहीं होगा।

तू अपने विचारों में कभी स्थिरता या जड़ता नहीं आने देना चाहता, इसीलिए तेरे विचार सदा पारे की तरह कंपित या अस्थिर रहते हैं।

त्याग में तू वही स्वाद पाता है, जो कि मनुष्य को मिर्च में मिलता है। तेरी समझ में नहीं आता कि मुमुक्षुओं ने त्याग को मधुर स्वादवाला आखिर क्यों कहा था! त्याग द्वारा तामसी वृत्ति को उत्तेजित करके तूने कोई कम धर्म-साधना नहीं की।

यह तेरा ग़ज़ब का साहस ही है, कि गाँठ में अनुभवों और विचारों की कुछ भी पूँजी नहीं, फिर भी बोलने और लिखने के व्यापार में तू खूब दूरतक जाना चाहता है।

लोग जब कहते हैं कि तेरा जीवन-रस लोक-सेवा में खर्च हो रहा है, तो वास्तविकता को जानते हुए भी उनकी बात को तू काटता नहीं, क्योंकि तेरी दृष्टि में ऐसा करना अविनय है—बल्कि हिंसा है।

लेकिन जहाँ तू आत्म-निन्दा सुनता है, वहाँ उसका काटना तेरा धर्म हो जाता है। वह शुद्ध अहिंसा है। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है, और उसकी गहनता को तूने समझ लिया है।

तू उस पुराने सूत्र को नहीं मानता कि त्याग का परिणाम संतोष है। तू तो त्याग का शीतल पान करते समय ईर्ष्या की आग को अपने अन्तर में प्रज्वलित कर लेता है।

दूसरों के कितने ही नये-पुराने विचारों और शोधों को तू इतना ज्यादा प्यार करता है कि उनपर अपने नाम की छाप लगा देता है—वे उनके न रहकर तेरे अपने हो जाते हैं।

उदार तू इतना अधिक है कि छोटी चीज़ों को बड़ी-से-बड़ी समझ लेता है, पर अपने तई तक ही तूने इस उदारता को सीमित रखना धर्म समझा है।

जैसे, तू साधारण ही पठित है, ज्ञान तेरा नगण्य-सा है, अनुभव का भी अभाव ही है, फिर भी तू अपने में कोई हीनता नहीं देखता। ब्रह्मवादी की भाँति तू अपने आपको समस्त विद्या, ज्ञान और अनुभव का मूल स्रोत समझता है।

जब किसी प्रश्न का कोई ठीक-ठीक जवाब नहीं सूझता, तब तू गंभीर-सी मुद्रा बना लेता है—प्रश्न-कर्त्ता समझ बैठता है कि तू किसी गहरे चिंतन में डूबा हुआ है, और तेरा काम बन जाता है।

जब तू एक वर्ग या समूह की टीका करता है, तब इतना तो तुझे मालूम रहता ही है कि उस वर्ग में भी कुछ ऐसे हैं, जो तेरी टीका से परे हैं। फिर भी तेरी लपेट में अपवादरूप अल्प-संख्यक भी आ जाते हैं।

पर तू खुद अल्पसंख्यकों में है या बहुसंख्यकों में ? तू बड़ी चतुराई से कभी उनमें मिल जाता है, कभी इनमें ।

तूने जिनकी भी टीका की प्रायः प्राचीनों को सब जगह बख्श दिया है। पर तुझ-जैसे तो जैसे अब हैं, तैसे ही तब भी थे, इस बात को क्या तू नहीं जानता ?

जानता हो या न जानता हो, अब ज्यादा मत बोल। जिन-जिनके प्रति गुस्ताखी प्रगट की है, उन सबसे अब तू प्रेमपूर्वक विदा ले।